ज्ञानामृत

- योग दर्शन एवं गीतासार
- नीति श्लोक संग्रह
- वेदोपनिषद् सन्देश

परम पूज्य स्वामी जी महाराज द्वारा जिन योगदर्शन, गीता व वेदोपनिषद् आदि मन्त्रों का प्रायः उच्चारण व उपदेश किया जाता है, उनका एक लघु संग्रह

संकलन

आचार्य बालकृष्ण

अध्यात्म विद्या

पतंजलि परिवार के सदस्यों हेतु जीवन-सूत्र

1. मैं मेरा सम्पूर्ण अस्तित्व ब्रह्म एवं ब्रह्माण्ड से है व उसी के लिये है। भागवत सत्ता व सम्पूर्ण अस्तित्व के प्रति मैं सदा कृतज्ञता का भाव रखूंगा। मेरी आत्मा में परमात्मा प्रतिपल जो भी प्रेरणा, संदेश, निर्देश व आज्ञा दे रहा है, उसे ईश्वर का आदेश मानकर ईश्वरीय योजना के तहत भागवत् कर्म करना, यही मेरा धर्म व जीवन का ध्येय है। मैं और मेरा सम्पूर्ण अस्तित्व समाज, राष्ट्र लोक कल्याण व भगवान् के लिये है।
2. मैं एक व्यक्ति नहीं, मैं सम्पूर्ण राष्ट्र की अभिव्यक्ति हूँ। मैं संकीर्ण नहीं, विराट हूँ। मैं परमात्मा का प्रतिरूप हूँ। मैं सत्य, अहिंसा व सदाचार का प्रतिनिधि हूँ। मेरे तन में, मेरा वतन बसता है। मैं भारत की तकदीर व तस्वीर हूँ। मैं अपना व अपने वतन का भाग्य विधाता हूँ।
3. कर्म ही मेरा धर्म है। कर्म ही मेरी पूजा है। कर्म ही जीवन व जगत का सत्य है। निष्काम कर्म, कर्म का अभाव नहीं, कर्त्तव्य के अहंकार का अभाव होता है।
4. राष्ट्र-धर्म सबसे बड़ा धर्म है। राष्ट्रदेव सबसे बड़ा देवता व राष्ट्रप्रेम सबसे उत्कृष्ट कोटि का प्रेम है। राष्ट्रहित सर्वोपरि है। राष्ट्र मेरा सर्वस्व है। इदं राष्ट्रस्य इदन्न मम। मेरा तन-मन-धन व जीवन राष्ट्रहित में समर्पित रहेगा।
5. मेरा एक दिन एक जिन्दगी के बराबर है तथा एक क्षण एक दिन के बराबर है। अत: एक-एक दिन को मैं एक जिन्दगी की तरह पूरे उत्साह से जीऊंगा, एक क्षण के लिये भी निराश नहीं होंऊगा। ये दिन ये ही जिन्दगी का आखिरी दिन है ऐसे एक-एक दिन को जीऊंगा।
6. सब मनुष्यों को भगवान् ने प्रथम होने की शक्ति व सामर्थ्य दिया है। मैं अपने जीवन में अपने क्षेत्र में विश्व का प्रथम व्यक्ति-एक आदर्श (आइकॉन) बनने हेतु प्रतिपल संघर्ष करूंगा। बड़ी सोच, कड़ी मेहनत व पक्का इरादा के साथ "चरैवेति चरैवेति" के सिद्धान्त पर चलकर भगवान् के अनुग्रह माता-पिता व गुरुसत्ता के आशीष, ईमानदारी से कठोर मेहनत, सही निर्णय व सबको श्रेय व सम्मान देता हुआ मैं एक दिन सफलता के शिखर पर अवश्य पहुँचुंगा।
7. मैं 24 घन्टे अपने ध्येय लक्ष्य (अल्टीमेट गोल-टार्गेट) को अपने सामने रखकर जीऊंगा, एक क्षण के लिये भी स्वयं को निम्न चेतना में नहीं जाने दूंगा, सदा उच्च चेतना, दिव्य चेतना, सहज योग, सहज समाधि, जीवन मुक्ति या विदेह भाव की अवस्था में रहूंगा व प्रतिपल "शिवोऽहम् शिवोऽहम्" का अनुभव करूंगा।
8. मैं आत्मा, परमात्मा व राष्ट्र की शक्ति को पूर्ण विवेक व प्रामाणिकता के साथ समझकर उसका सौ प्रतिशत सही उपयोग करूंगा। सब स्वरूपों में ब्रह्म स्वरूप का दर्शन एवं सब सम्बन्धों में ब्रह्म सम्बन्ध की अनुभूति करता हुआ, जीवन के अन्तिम सत्य, शाश्वत सुख को हर पल अनुभव करता हुआ गुरु, भगवान व राष्ट्र को केन्द्र में रखकर जीऊंगा।
9. प्रणव के जप व प्राणायाम के तप से सब जप, तप, शक्ति व सिद्धियों को प्राप्त कर शरीर, इन्द्रियों एवं मन पर विजय प्राप्त कर पिण्ड व ब्रह्माण्ड-गत-समस्त शक्तियों के साथ तादात्मय अनुभव करूंगा।
10. ज्ञान, कर्म व भक्ति की पराकाष्ठा में जीता हुआ, मैं परा व अपरा विद्याओं को प्राप्त करूंगा तथा जीवन व जगत् में भगवान् का साम्राज्य स्थापित करूंगा। "स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः"।

ज्ञानामृत

- योग दर्शन एवं गीतासार
- नीति श्लोक संग्रह
- वेदोपनिषद् सन्देश

परम पूज्य स्वामी जी महाराज द्वारा जिन योगदर्शन, गीता व वेदोपनिषद् आदि मन्त्रों का प्रायः उच्चारण व उपदेश किया जाता है, उनका एक लघु संग्रह

संकलन
आचार्य बालकृष्ण

दिव्य प्रकाशन

''ज्ञानामृत''

संस्करण : प्रथम, सन् 2012

मुद्रक : mpprinters
बी-220, फेज-II, नोएडा-201305
गौतम बुद्ध नगर, यूपी

विषय सूची

योगदर्शन

संदेश

योग भारतीय धर्म, दर्शन, अध्यात्म संस्कृति एवं सभ्यता का मूलतत्व है। योगी होना हमारे पूर्वजों ने जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि माना है। योगविद्या ही अध्यात्म विद्या अथवा परा-अपरा विद्याओं का मूल स्रोत है। योगदर्शन, गीता एवं उपनिषद् योगविद्या के प्रमुख ग्रन्थ हैं। योग हमारे जीवन का केन्द्र है एवं जीवन की परिधि यह पूरा ब्रह्माण्ड है। जो योग को केन्द्र में रखकर कार्य करता है, वह इस ब्रह्माण्ड के सम्पूर्ण मायाजाल से वैसे ही निर्लिप्त रहता है जैसे कमल जल में रहकर उससे असंग या निर्लिप्त रहता है, ऐसे ही योगी संसार में वेदानुकूल ज्ञान, विद्या, बुद्धि या विवेकपूर्वक कर्म, आचरण व व्यवहार करता हुआ निष्काम भाव से निष्कलंक जीवन जीता है।

हमारे सभी महापुरुष योगी थे। भगवान् राम, योगेश्वर श्रीकृष्ण, महायोगी शिव, महर्षि दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द व जे.कृष्णमूर्ति आदि से लेकर सभी ऋषि-मुनि वीर-वीरांगनायें, गुरु नानकदेव, गुरु गोविन्द सिंह आदि सभी महान् गुरु, भगवान् महावीर, भगवान् बुद्ध, पैगम्बर मोहम्मद साहब, प्रोफेट ईसा मसीह आदि महापुरुष व सभी सूफी संत आदि योगी थे। हम इन सभी महापुरुषों को अपना आदर्श मानते हैं तथा उन जैसा ही जीवन जीना चाहते हैं। बार-बार मन में प्रश्न उठता है कि हमारा जीवन कैसा हो? इसका सीधा सा उत्तर है—हमारे पूर्वजों व ऋषि-मुनियों जैसा। हमारे पूर्वजों का ज्ञान, जीवन व चरित्र बहुत ही ऊँचा एवं पवित्र था। दिव्य जीवन जीने की सदा सबको ऊँची प्रेरणा मिलती रहे इसके लिए स्वाध्याय एक बहुत बड़ा साधन है। मेरी खुद की प्रेरणा (Motivation) व अभीप्सा (Inspiretion) का मुख्य स्त्रोत भी योगदर्शन, गीता एवं वेदोपनिषद् रहे हैं। सबको ये दिव्य प्रेरणायें सदा मिलती रहें इसी उद्देश्य से गीता, दर्शन, वेद, उपनिषद् व नीति ग्रन्थों पर आधारित यह लघु पुस्तिका तैयार की गयी है। यदि सब शास्त्रों को पढ़ने का सौभाग्य, समय या सामर्थ्य हमें किसी कारणवश न भी मिला हो तो सार रूप में ऋषियों के सद्ग्रन्थों के रूप में इन लघु पुस्तिकाओं का प्रकाशन हो रहा है। आशा है सभी दिव्य आत्मायें इनसे लाभान्वित होंगी।

(स्वामी रामदेव)

समाधिपाद

अथ योगानुशासनम्।।1

योग के शास्त्र को आरम्भ किया जाता है ।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।।2

चित्त की वृत्तियों का निरुद्ध हो जाना योग है।

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।।3

चित्त की वृत्तियों के रुक जाने पर आत्मा अपने स्वरूप में ठहर जाता है।

वृत्तिसारूप्यमितरत्र।।4

चित्तवृत्तिनिरोध से भिन्न अवस्था में आत्मा की वृत्तियों के साथ एकरूपता बनी रहती है।

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः।।5

चित्त में उठने वाली वृत्तियाँ पाँच प्रकार की हैं, जो कि क्लिष्ट तथा अक्लिष्ट होती हैं।

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः।।6

मन में उठने वाली वे पाँच प्रकार की वृत्तियाँ प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा व स्मृति हैं।

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि।।7

'प्रमाण' नामक वृत्ति प्रत्यक्ष, अनुमान व आगम नामक भेद स्वरूप वाली होती है।

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्।।8

विपर्यय मिथ्याज्ञान है क्योंकि वह पदार्थ के स्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं होता है।

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः।।9

शब्द से उत्पन्न ज्ञान का अनुगमन करने वाली ऐसी चित्तवृत्ति जो विषयगत वस्तु के अस्तित्व से रहित होती है, 'विकल्प वृत्ति' कहलाती है।

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा।।10

जागृत और स्वप्न ज्ञान के अभाव की प्रतीति का आश्रय करने वाली चित्तवृत्ति 'निद्रा' कहलाती है अथवा जागृत तथा स्वप्न के अभाव के कारणभूत तमः (जड़ता विशेष का अवलम्बन करने वाली वृत्ति निद्रा कहलाती है)।

अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः।।11

'पूर्व अनुभव किये गये विषयों का पुनः स्मरण होना' इस स्वरूप वाली चित्तवृत्ति 'स्मृति' कहलाती है।

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।।12

अभ्यास और वैराग्य के द्वारा चित्त में उत्पन्न होने वाली वृत्तियों का निरोध होता है।

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः।।13

उन अभ्यास और वैराग्य में से चित्त को वृत्तिरूपी तरङ्ग से रहित प्रशान्त अवस्था में बनाये रखने के लिए जो प्रयास किया जाता है, वह 'अभ्यास' कहलाता है।

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।।14

पूर्वसूत्र में बताया गया चित्त को निस्तरङ्ग वृत्तिरहित अवस्था में बनाये रखने का जो अभ्यास है

वह दीर्घकाल तक, लगातार, सत्कारपूर्वक = प्रेमपूर्वक अर्थात् श्रद्धा, उत्साह और निष्ठापूर्वक अनुष्ठान किया जाने पर दृढ़ अवस्था वाला (बद्धमूल या अटूट) होता है अर्थात् आसानी से भग्न नहीं होता।

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।।15

नेत्र-श्रोत्र आदि इन्द्रियों से साक्षात् किये गये और वेद आदि शास्त्रों तथा गुरु-आचार्य आदि के माध्यम से सुने व समझे गये विषयों में तृष्णारहित चित्त की जो वशीकारमय स्वाधीनात्मक तुच्छताबोध युक्त निर्लिप्तता की अनुभूति है, वह 'वैराग्य' कहलाती है।

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्।।16

वह उच्चतम स्तर का वैराग्य है, जो आत्मा का साक्षात्कार होने से सत्व, रज तथा तम गुणों में तृष्णारहित हो जाना है।

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः।।17

वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता नामक परिस्थितियों के अनुगम से चित्तवृत्तियों का निरोध सम्प्रज्ञात समाधि कहलाता है।

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः।।18

सर्व वृत्तिनिरोध का कारण जो परवैराग्य उसके निरन्तर अभ्यासपूर्वक जो समाधि घटित होती है, वह संस्कारमात्रशेष अवस्था वाली होती है तथा पूर्वसूत्रवर्णित समाधियों से भिन्न होती है।

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्।।19

जन्ममात्र कारण है जिस असम्प्रज्ञात समाधि का, वह असम्प्रज्ञात समाधि विदेह और प्रकृतिलय देवों की होती है।

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्।।20

श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, सम्प्रज्ञात समाधि व प्रज्ञापूर्वक असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था बनती है, अन्यों की अर्थात् विदेह और प्रकृतिलय देवों से भिन्न साधकों की।

तीव्रसंवेगानामासन्नः।।21

तीव्र पुरुषार्थ वालों को समाधि की प्राप्ति और समाधि का फल (मोक्ष) शीघ्र प्राप्त होता है।

मृदुमध्याऽधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः।।22

तीव्र पुरुषार्थ के भी मृदु, मध्य व अधिमात्र स्तर का होना संभव होने से उस पूर्वोक्त काल-विभाजन से भी विशेष विभाजन हो सकता है।

ईश्वरप्रणिधानाद्वा।।23

ईश्वर-प्रणिधान मात्र से भी असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति हो जाती है।

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।।24

क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से अछूता चेतनतत्त्वविशेष ईश्वर है।

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ।।25।।

उस ईश्वर में सर्वातिशायी सर्वज्ञता का मूल विद्यमान है।

स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।।26

वह ईश्वरनामक चेतनतत्वविशेष पहले हो चुके आत्मज्ञानियों का भी गुरु रहा है, काल के द्वारा सीमित न होने से।

तस्य वाचकः प्रणवः।।27

उस ईश्वर नामक चेतनतत्त्वविशेष के अस्तित्व का बोध कराने वाला संकेतक शब्द ध्वन्यात्मक 'ओ३म्' शब्द है।

तज्जपस्तदर्थभावनम्।।28

उस ईश्वरबोधक 'ओ३म्' शब्द के पुनः-पुनः उच्चारण के साथ उसके अर्थ की भावना करनी चाहिये।[यह जप की विधि है]

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।।29

जप के करने से साधक को स्व-आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है तथा समाधि-विघ्नों का नाश भी हो जाता है। [यह जप का परिणाम है]

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्त्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः।।30

व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व, अनवस्थितत्व ये चित्त के विक्षेप हैं तथा समाधि की प्राप्ति में बाधारूप हैं।

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः।।31।।

दुःख, हताशा, शरीराङ्गों में सूक्ष्म कंपकपी, असहज श्वास-प्रश्वास विक्षेप सहभागी हैं अर्थात् ये सब पूर्वोक्त चित्तविक्षेपों के साथ-साथ पैदा हो जाते हैं।

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ।।32।।

उन व्याधि-स्त्यान आदि विक्षेपों तथा दुःख आदि विक्षेपों के निराकरण के लिये एकतत्त्व का अभ्यास करना चाहिये।

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्त- प्रसादनम्।।33

सुखी व्यक्तियों के प्रति मैत्री भाव, दुःखी व्यक्तियों के प्रति करुणा भाव, पुण्यात्मा व्यक्तियों के प्रति प्रसन्नता का भाव तथा पापी व्यक्तियों के प्रति उपेक्षा भाव रखने से साधक का चित्त शान्त व निर्मल हो जाता है।

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य।।34

श्वास के बार-बार बाहर फेंकने व रोकने की प्रक्रिया के द्वारा भी चित्त शान्त व निर्मल बन जाता है।

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी।।35

रूप-रस आदि इन्द्रिय-विषयों को विषय बनाकर उत्पन्न हुई प्रकृष्ट वृत्ति भी, जो कि मन की स्थिरता को बनाये रखने वाली होती हो, चित्त को शान्त व निर्मल बना देती है।

विशोका वा ज्योतिष्मती।।36

शोक से रहित प्रकाश से युक्त प्रवृत्ति भी चित्त को शान्त व निर्मल बना देती है।

वीतरागविषयं वा चित्तम्।।37

रागरहित योगियों के चित्त का आलम्बन करने वाला साधक का चित्त भी स्थिरता प्राप्त कर लेता है।

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा।।38

स्वप्न का आलम्बन एवं निद्रा में बोध का आलम्बन भी चित्त को शान्त व निर्मल बना देता है।

यथाभिमतध्यानाद्वा।।39

अन्य किसी अभिमान्य सिद्धान्त के अनुसार किसी अन्य विधि से ध्यान करने से भी चित्त शान्त व निर्मल हो जाता है।

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः।।40

पूर्वोक्त विधियों के माध्यम से स्थिर किये हुए चित्त का परमाणु से लेकर परम महत् पर्यन्त वशीकरण सम्भव हो जाता है।

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः।।41

जिसकी राजस-तामस वृत्तियाँ क्षीण हो चुकी हैं ऐसे स्वच्छ-निर्मल-निर्दोष मणि सदृश चित्त का ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य के स्वरूप में स्थिर होकर उसी रूप आकार वाला प्रतीत होना 'समापत्ति' कहलाती है।

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः।।42

उन पूर्वसूत्रलक्षित समापत्तियों में शब्द, अर्थ और ज्ञान के भेदों से मिश्रित समापत्ति 'सवितर्का समापत्ति' कहलाती है।

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का।।43

शब्द-संकेत जन्य स्मृति के पूरी तरह से निवृत्त हो जाने पर अपने ग्रहणरूप से शून्य हुई-सी केवल अर्थमात्र का बोध कराने वाली चित्त की वृत्त्यात्मक स्थिति 'निर्वितर्का समापत्ति' कहलाती है।

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता।।44

इस पूर्वोक्त विवरण के अनुसार ही सूक्ष्म ध्येयविषय वाली सविचारा और निर्विचारा समापत्तियाँ भी व्याख्यान की हुई समझ लेनी चाहिए।

सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्।।45

विषयों का सूक्ष्मत्व अलिङ्ग प्रकृति अर्थात् प्रकृति की अव्यक्तावस्था पर्यन्त है।

ता एव सबीजः समाधिः।।46

वे पूर्वसूत्रों में वर्णित समापत्तियाँ ही 'सबीज समाधि' कही जाती हैं।

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः।।47

निर्विचार-समापत्ति में वैशारद्य-अवस्था उत्पन्न हो जाने पर, योगी को अध्यात्मप्रसाद प्राप्त होता है।

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा।।48

उस पूर्वसूत्रोक्त दशा में 'ऋतम्भरा' नाम वाली बुद्धि होती है।

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्।।49

शब्दप्रमाणजनित तथा अनुमानप्रमाणजनित प्रज्ञा से ऋतम्भरा प्रज्ञा भिन्न प्रकार की होती है, विशेष अर्थ का बोध कराने वाली होने से।

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी।।50

उस ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न हुये संस्कार अन्य संस्कारों को रोकने वाले होते हैं।

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः।।51

उस ऋतम्भराप्रज्ञाजनित संस्कार के भी रोक दिये जाने पर, सब चित्तवृत्तियाँ निरुद्ध हो जाने से निर्बीज समाधि घटित होती है।

साधनपाद

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।।1

तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान ये तीनों सम्मिलित रूप से 'क्रियायोग' कहलाते हैं।

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च।।2

क्रियायोग का अभ्यास समाधि की अवस्था को प्राप्त करने के लिये तथा क्लेशों को सूक्ष्म करने के लिए किया जाता है।

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः।।3

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पाँच क्लेश हैं।

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्।।4

अविद्या क्लेश, प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार अवस्थाओं वाले अगले अस्मिता, राग आदि क्लेशों का उत्पत्तिस्थान है।

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचि- सुखात्मख्यातिरविद्या।।5

अनित्य पदार्थों में नित्यता का, अपवित्र पदार्थों में पवित्रता का, दुःखोत्पादक पदार्थों में सुखमयता का तथा अचेतन पदार्थों में चेतनता का अहसास होना अविद्या कहलाती है।

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता।।6

आत्मा और चित्त की एकरूपता = अभेदप्रतीति का होना ही 'अस्मिता' क्लेश कहलाता है।

सुखानुशयी रागः।।7

सुख का अनुसरण करने वाला भाव राग नामक क्लेश है।

दुःखानुशयी द्वेषः।।8

दुःख का अनुसरण करने वाला भाव 'द्वेष' नामक क्लेश है।

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथाऽऽरूढो- ऽभिनिवेशः।।9

नैसर्गिक रूप से प्रवाहित होने वाला मरणत्रासरूपी भाव, जो कि विद्वान् के अन्तःकरण में भी उसी प्रकार आरूढ़ है, जिस प्रकार अविद्वान् के अन्तःकरण में, 'अभिनिवेश' क्लेश कहलाता है।

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः।।10

वे क्लेश, जो कि सूक्ष्म हो गये हों, प्रतिप्रसव प्रक्रिया के द्वारा सर्वथा नष्ट किये जा सकते हैं।

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः।।11

क्रियायोग के निरन्तर अभ्यास के द्वारा तनु हो चुके क्लेशों की वृत्तियाँ ध्यान के अभ्यास के द्वारा हटानी चाहिये।

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः।।12

अविद्या आदि पञ्च क्लेश मूल वाले हैं कर्मों के संस्कार, जिनका फल दृश्यमान इस वर्तमान जन्म में और अदृश्यमान भावी जन्मों में भोगा जाता है।

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।।13

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात्।।14

अविद्या आदि क्लेशरूपी मूलकारण के बने रहने पर ही, पूर्वसूत्र में वर्णित कर्मसंस्कारों का विपाक जाति, आयु और भोग्य पदार्थों की प्राप्ति के रूप में होता है। विपाकरूप में प्राप्त वे जाति, आयु और भोग्य पदार्थ सुख तथा दुःख के रूप में फल देते हैं, पुण्य कर्मों और पाप कर्मों से उत्पन्न होने से।

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।।15

परिणामदुःख, तापदुःख, और संस्कारदुःख से युक्त होने से तथा सत्त्व आदि गुणों की वृत्तियों का परस्पर विरोध होने से विवेकी पुरुष के लिये सभी सुख भी दुःखरूप ही होते हैं।

हेयं दुःखमनागतम्।।16

भावी दुःख त्याज्य है।

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः।।17

द्रष्टा आत्मा और दृश्य प्रकृति का संयोग दुःख का कारण है।

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्।।18

वह सत्तात्मक द्रव्य जो कि प्रकाश, क्रिया और स्थिति स्वभाव वाला है, भूत और इन्द्रिय स्वरूप वाला है तथा भोग और अपवर्ग जिसका प्रयोजन है, वह 'दृश्य' है।

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि।।19

विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र और अलिङ्ग ये सत्त्वादि गुणों की पदार्थों के रूप में परिणमित अवस्थाएँ हैं। पर्व = विभाग अर्थात् त्रिगुण इस प्रकार के परिणाम से विभक्त होकर अवस्थित या अभिव्यक्त हैं।

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः।।20

द्रष्टारूप आत्मा केवल ज्ञानमात्र है, जो कि निर्विकार होते हुए भी वृत्तियों के अनुरूप देखने वाला है।

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा।।21

उस द्रष्टारूप आत्मा के भोग व अपवर्ग को सिद्ध करने के लिए ही दृश्यरूप जगत् का अस्तित्व है।

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्।।22

कृतार्थ आत्मा के लिये नष्ट हुआ भी यह दृश्यरूप जगत् नष्ट नहीं होता क्योंकि उस कृतार्थ पुरुष से भिन्न अन्य पुरुषों के लिये अपवर्ग को प्राप्त कराना रूप प्रयोजन सामान्य रूप से बना रहता है।

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः।।23

स्वशक्ति प्रकृति और स्वामिशक्ति आत्मा के स्व-स्व रूपों की उपलब्धि का हेतु 'संयोग' कहलाता है। अर्थात् जिस संयोग से द्रष्टा तथा दृश्य की उपलब्धि होती है वह संयोग विशेष ही यह संयोग है।

तस्य हेतुरविद्या।।24

द्रष्टा-दृश्य के संयोग का कारण अविद्या है।

तदभावात् संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम्।।25

अविद्या का अभाव हो जाने पर दुख के कारण 'द्रष्टा-दृश्य के संयोग' का अभाव हो जाता है। संयोगाभाव की वह अवस्था 'हान' कहलाती है तथा वह हान ही चेतनस्वरूप आत्मा का 'कैवल्य' कहा जाता है।

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः।।26

अस्थिरता दोष से रहित विवेकख्याति, कैवल्य पद को प्राप्त करने का उपाय है।

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा।।27

उस विवेकज्ञान को उपलब्ध होते हुए योगी की क्रमशः सात प्रकार की प्रकृष्ट अवस्थाओं वाली बुद्धि बनती है।

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः।।28

मनसा-वाचा-कर्मणा योग के अङ्गों का पालन करने से अविद्या-अस्मिता आदि पञ्च क्लेशरूप अशुद्धि का नाश होने पर, ज्ञान का प्रकाश पूर्ण विवेकख्याति की अवस्था पर्यन्त बढ़ता जाता है।

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणा- ध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।।29

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि, योग के आठ अङ्ग हैं।

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।।30

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को 'यम' कहते हैं।

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्।।31

अहिंसा, सत्य आदि पाँचों यम जाति, देश, काल और नियमविशेष से अबाधित, सभी अवस्थाओं में पालन किये जाने वाले महाव्रतरूप हैं।

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।।32

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान 'नियम' कहलाते हैं।

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्।।33

वितर्कों के द्वारा यम-नियमों के पालन में बाधा पड़ने पर, प्रतिपक्ष का चिन्तन करना चाहिये।

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्।।34

हिंसा आदि वितर्क कहलाते हैं, जो कि स्वयमेव किये गये हों या अन्य से कराये गये या अनुमोदन किये गये हों। ये लोभ, क्रोध व मोहवश किये जाते हैं तथा मृदु, मध्य और तीव्रस्तर के होते हैं। ये हिंसा आदि वितर्क जीवात्मा को अनन्त दुःख और अनन्त अज्ञान के रूप में फल देने वाले होते हैं, इस प्रकार चिन्तन-मनन करना प्रतिपक्षभावना कहलाती है।

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।।35

अहिंसा की भावना जब चित्त में पूरी तरह प्रतिष्ठित हो जाती है तब, उस योगी के सान्निध्य में आने वाले प्राणियों का परस्पर वैरभाव छूट जाता है।

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।।36

सत्य के भाव के चित्त में पूरी तरह से प्रतिष्ठित हो जाने पर, योगी की वाणी में क्रिया के फल का आश्रय सिद्ध हो जाता है अर्थात् योगी की वाणी से जो भी बात निकल जाती है, वह सत्य होकर रहती है।

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्।।37

अस्तेय भाव के चित्त में पूरी तरह से प्रतिष्ठित हो जाने पर योगी को समस्त उत्तम पदार्थों की प्राप्ति होने लगती है।

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।।38

ब्रह्मचर्य-भाव के चित्त में पूरी तरह से प्रतिष्ठित हो जाने पर, साधक को चुम्बकीय-आकर्षण से युक्त तेजस्विता की प्राप्ति होती है।

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः।।39

अपरिग्रह के भाव के चित्त में पूरी तरह से स्थिर हो जाने पर, साधक को अपने जन्म सम्बन्धी क्यों... ? कहाँ से... ? इत्यादि प्रश्नों का यथार्थ ज्ञान हो जाता है।

शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः।।40

शुद्धि का मनसा, वाचा, कर्मणा पालन करने से स्व-शरीरावयवों के प्रति घृणा का भाव तथा अन्य व्यक्तियों के साथ शारीरिक सम्पर्क बनाने की आकांक्षा का अभाव घटित होता है।

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शन- योग्यत्वानि च।।41

शुद्धिकरण का पालन करने से साधक के चित्त में राग-द्वेष का अभाव, मन की प्रसन्नता, एकाग्रता, इन्द्रियों पर वशता तथा आत्मदर्शन की योग्यता भी प्राप्त होती है।

सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः।।42

सन्तोष के भाव से सर्वोत्तम सुख की प्राप्ति होती है।

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।।43

मानसिक-वाचिक-कायिक तप के अनुष्ठान के द्वारा अशुद्धि का क्षय हो जाने से, साधक को शरीर और इन्द्रियों से सम्बन्धी विभिन्न आन्तरिक क्षमताओं की प्राप्ति होती है।

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः।।44

प्रणव आदि पवित्र शब्दों का जप तथा मोक्षशास्त्रों के अध्ययनरूप स्वाध्याय के निरन्तर करने से इष्ट दिव्य आत्माओं के साथ सम्पर्क होने लगता है।

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।।45

मन, वाणी तथा शरीर की समस्त क्रियाओं को प्रभु के प्रति सविनय समर्पित कर देने रूप ईश्वर-प्रणिधान का निरन्तर अभ्यास करने से साधक को समाधि-अवस्था की प्राप्ति होने लगती है।

स्थिरसुखमासनम्।।46

शरीर की जो स्थिति स्थिरता व सुखमयता से युक्त हो, वह आसन कहलाती है।

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्।।47

प्रयत्न की शिथिलता और असीम आकाश या ईश्वर में ध्यान लगाने से साधक का आसन स्थिर व सुखपूर्ण हो जाता है।

ततो द्वन्द्वानभिघातः।।48

आसन के सिद्ध हो जाने पर, साधक के शरीर व मन पर सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास व संकल्प-विकल्प रूप द्वन्द्वों का अभिघात नहीं होता।

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।।49

आसन के स्थिर हो जाने पर श्वास लेने व श्वास को छोड़ने की स्वाभाविक गति का विच्छिन्न होना प्राणायाम कहलाता है।

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः।।50

बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृति, स्तम्भवृत्ति इन भेदों वाला प्राणायाम, देश, काल और संख्या के द्वारा नापा गया दीर्घ और सूक्ष्म होता जाता है।

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः।।51

चौथा प्राणायाम बाह्य और आभ्यन्तर विषयक प्राण के आक्षेप अर्थात् आलोचन स्वरूप वाला होता है।

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।।52
धारणासु च योग्यता मनसः।।53

प्राणायाम के नियमित अभ्यास से प्रकाशावरण कमजोर पड़ने लगता है तथा धारणाओं का अनुष्ठान कर सकने की मानसिक-सक्षमता की प्राप्ति भी होती है।

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।।54

इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों के साथ सम्पर्क न रहने पर, उनका चित्त के सदृश निरुद्ध-सा हो जाना प्रत्याहार कहलाता है।

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्।।55

प्रत्याहार के घटित हो जाने पर साधक को सहज ही इन्द्रियों पर परम-वशता प्राप्त हो जाती है।

विभूतिपाद

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।।1

चित्त को शरीरस्थ या शरीर से बाह्य किसी स्थानविशेष पर रोक देना 'धारणा' कहलाता है।

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।।2

उस धारणास्थल में ध्येय विषयक ज्ञान का एक समान प्रवाह बने रहना, अन्य ज्ञान का मध्य में न आना, ध्यान कहलाता है।

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।।3

वह ध्यान ही जब ध्येयवस्तुमात्रभासात्मक हो जाता है तथा ध्याता स्वयं के होने की प्रतीति से रहित-सा हो जाता है, 'समाधि' कहलाता है।

त्रयमेकत्र संयमः।।4

एक वस्तुविषयक धारणा-ध्यान-समाधि संयुक्त रूप से 'संयम' कहलाते हैं।

तज्जयात् प्रज्ञालोकः।।5

उस संयम के सिद्ध हो जाने पर योगी को प्रकृष्ट-ज्ञानालोक उपलब्ध होता है।

तस्य भूमिषु विनियोगः।।6

उस प्रज्ञालोक-क्षमता का शरीर आदि के स्थानविशेषों में विनियोग किया जाता है।

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः।।7

धारणा-ध्यान-समाधि ये तीनों साधन अन्तरङ्ग हैं, पूर्व वाले यम, नियम, आसन आदि पाँच अङ्गों की अपेक्षा।

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य।।8

सम्प्रज्ञात समाधि का अन्तरङ्ग साधनरूप वह धारणा-ध्यान-समाधि का समुदाय भी बहिरङ्ग साधन है, निर्बीज अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि का।

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ
निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः।।9

व्युत्थान के संस्कारों का सतत दबना और निरोध के संस्कारों का सतत उभरना रूप निरोध काल में चित्त का क्रम होता है, यह ही चित्त का 'निरोध- परिणाम' है।

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्।।10

उस निरुद्ध चित्त का प्रशान्त बहाव बना रहता है, सदृश संस्कारों के कारण से।

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः।।11

चित्त की सर्वार्थ प्रवृत्ति का सतत तिरोभाव और एकाग्र प्रवृत्ति का सतत प्रादुर्भाव होते जाना, चित्त का 'समाधि-परिणाम' कहलाता है।

ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः।।12

उसके अनन्तर फिर शान्त और उदय होती हुई समान वृत्तियाँ चालू रहना, चित्त का 'एकाग्रता-परिणाम' है।

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः।।13

इससे अर्थात् गतसूत्रों में चित्त के परिणाम कथन से भूतों और इन्द्रियों में धर्म-परिणाम, लक्षण-परिणाम और अवस्था-परिणाम भी व्याख्या किये गये समझ लेने चाहिये।

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी।।14

शान्त, उदित और भावी धर्मों में सतत अनुगत रहने वाला तत्व 'धर्मी' कहलाता है।

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः।।15

क्रम का अन्य-अन्य होना, परिणाम के अन्य-अन्य होने में कारण है।

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्।।16

धर्म-परिणाम, लक्षण-परिणाम व अवस्था-परिणाम रूप परिणामत्रय में संयम करने से तद्वस्तुविषयक अतीत और अनागत का ज्ञान हो जाता है।

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् संकरस्तत्प्रविभागसंयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम्।।17

शब्द, अर्थ और ज्ञान के एक दूसरे में आरोपित हो जाने से तीनों का सङ्कर हो जाता है। उनके सूक्ष्म विभाग में संयम करने से योगी को सब प्राणियों के शब्दों का ज्ञान होने लगता है अर्थात् उनके अभिप्राय का ज्ञान होने लगता है।

संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम्।।18

अतीतजन्मगत संस्कारों का साक्षात्कार करने से योगी को पूर्व के जन्मों का ज्ञान हो जाता है।

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ।।19।।

न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात्।।20

दूसरे के चित्तप्रत्यय अथवा चित्तवृत्ति में संयम करने से दूसरे की चित्तावस्था का ज्ञान हो जाता है, परन्तु वह परचित्तावस्था का ज्ञान विषय-वस्तु सहित नहीं होता है, उस विषयवस्तु सहित चित्त के संयम का विषय न होने से।

कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्द्धानम्।।21

शरीर के रूप में संयम करने से, शरीर की रूपग्राह्यशक्ति के रुक जाने पर, देखने वाले व्यक्ति की चक्षु-इन्द्रिय और योगी के शरीर से परावर्तित होने वाले प्रकाश का परस्पर सम्पर्क न बन पाने की स्थिति में योगी के शरीर का अन्तर्द्धान होना घटित होता है।

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा।।22

शीघ्र फल देने वाले और देरी से फल देने वाले दो प्रकार के कर्म होते हैं, उन कर्मों में संयम करने से योगी को मृत्यु-काल का ज्ञान हो जाता है तथा मृत्यु-ज्ञापक चिह्नों से भी मृत्यु-काल का ज्ञान होता है।

मैत्र्यादिषु बलानि।।23

मैत्री आदि भावों में संयम करने से योगी को तद्भावविषयक बल प्राप्त होते हैं।

बलेषु हस्तिबलादीनि।।24

बलों में संयम करने से योगी को हस्तिबल आदि सदृश बल प्राप्त हो जाते हैं।

प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहित- विप्रकृष्टज्ञानम्।।25

सूक्ष्म, व्यवहित तथा दूरस्थ वस्तुओं को विषय बनाकर प्रवृत्त्यालोक का न्यास करने से योगी को

सूक्ष्म, व्यवहित तथा दूरस्थ वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है।

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्।।26

शरीरस्थ सूर्य-केन्द्र में संयम करने से, योगी को लोक-लोकान्तरों का ज्ञान हो जाता है।

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्।।27

शरीरस्थ चन्द्र-केन्द्र में संयम करने से, योगी को आकाशस्थ तारों की स्थिति का ज्ञान हो जाता है।

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्।।28

शरीरस्थ ध्रुव-केन्द्र में संयम करने से, योगी को पूर्वसूत्रोक्त आकाशस्थ तारों की गति का ज्ञान हो जाता है।

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्।।29

शरीरस्थ नाभि-चक्र में संयम करने से, योगी को शरीर के अङ्गो की संरचना का ज्ञान हो जाता है।

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः।।30

शरीरस्थ कण्ठकूप में संयम करने से, योगी को लम्बे समय तक भूख-प्यास की निवृत्ति हो जाती है।

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्।।31

शरीरस्थ कूर्म-नाड़ी में संयम करने से, योगी को विशिष्ट स्थिरता की प्राप्ति होती है।

मूर्द्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्।।32

मूर्द्धा-स्थित ज्योति में संयम करने से, साधक को सिद्धों के दर्शन होते हैं।

प्रातिभाद्वा सर्वम्।।33

प्रातिभ ज्ञान से भी योगी सब जान लेता है।

हृदये चित्तसंवित्।।34

शरीरस्थ हृत्केन्द्र में संयम करने से, योगी चित्त-संवेत्ता हो जाता है।

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थत्वात् स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम्।।35

चित्त और पुरुष जो परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं, इन दोनों में अभेद प्रतीति भोग है। उस से भिन्न जो स्वार्थ प्रतीति है अर्थात् पौरुषेय प्रत्यय है, उसमें संयम करने से साधक को पुरुष का ज्ञान होता है।

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्त्ता जायन्ते।।36

उस स्वार्थसंयम से प्रातिभ, श्रावण, वेदना, आदर्श, आस्वाद, वार्त्ता नामक सिद्धियाँ भी प्रकट होती हैं।

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः।।37

वे प्रातिभ आदि पूर्वसूत्रोक्त सिद्धियाँ समाधि में बाधक होती हैं तथा व्युत्थान दशा में सिद्धियाँ हैं।

बन्धकारणशैथिल्यात् प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः।।38

बन्ध कारण की शिथिलता से तथा चित्त-संचरण का मार्ग जान लेने से चित्त का परशरीर में प्रवेश हो जाता है।

उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च।।39

'उदान' नामक प्राण को जय करने से, योगी जल, कीचड़ तथा काँटे आदि से अनछुआ रहता है अर्थात् इनमें डूबता, धँसता और बिन्धता नहीं है तथा मरण समय में योगी को ऊर्ध्वगति प्राप्त होती है।

समानजयाज्ज्वलनम्।।40

'समान' नामक प्राण पर संयम करने से, योगी को ज्वलन सदृश शारीरिक दीप्ति प्राप्त होती है।

श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद् दिव्यं श्रोत्रम्।।41

श्रोत्रेन्द्रिय और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से, योगी की श्रोत्रेन्द्रिय दिव्य हो जाती है।

कायाकाशयोः संबन्धसंयमाल्लघुतूल- समापत्तेश्चाकाशगमनम्।।42

देह और आकाश के संबन्ध में संयम करने से तथा हल्के रुई सदृश पदार्थ में समापत्ति करने से, योगी का आकाश में गमन करना घटित होता है।

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः।।43

शरीर के बाहर अकल्पित वृत्ति 'महाविदेहा' कहलाती है। उस महाविदेहावृत्तिलाभ से प्रकाश का आवरण क्षीण हो जाता है।

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः।।44

स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय तथा अर्थवत्त्व में संयम करने से, योगी को भूतों पर जय प्राप्त होती है।

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसंपत्तद्धर्मान- भिघातश्च।।45

उस भूतजय से अणिमा आदि सिद्धियों का प्रादुर्भाव होता है, कायसम्पत् की प्राप्ति होती है और भूतों के धर्मों से योगी की क्रियाओं में कोई रुकावट नहीं होती।

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत् ।।46

रूप, लावण्य, बल, वज्र के सदृश दृढ़ बनावट ये 'कायसम्पत्' कहलाती हैं।

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्वसंयमादिन्द्रियजयः ।।47

ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय, अर्थवत्त्व में संयम करने से, योगी को इन्द्रियजय सामर्थ्य प्राप्त होती है।

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ।।48

उस इन्द्रियजय से योगी को मन के समान वेगवाला हो जाना, देह के बिना इन्द्रियों का विषय-ग्रहण सामर्थ्य तथा प्रकृति के सब विकारों पर वशीकरण रूप सामर्थ्य प्राप्त होती है।

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च।।49

बुद्धि और पुरुष के भेद का साक्षात्कार कर लेने वाले योगी का सब भावों के प्रति प्रशासकत्व और समस्त व्यवहारों के प्रति ज्ञातृत्व हो जाता है।

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्।।50

उस पूर्वसूत्रोक्त विवेकख्याति की अवस्था से वैराग्य हो जाने से भी, दोषों के बीजों का क्षय हो जाने से 'कैवल्य' हो जाता है।

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्ट- प्रसंगात्।।51

स्थानधारियों द्वारा सादर आमन्त्रित करने पर, योगी को सङ्ग=लगाव और स्मय=अभिमान नहीं करना चाहिये, फिर अनिष्ट के प्रंसग से।

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद् विवेकजं ज्ञानम्।।52

क्षण और उसके क्रम में संयम करने से, योगी को 'विवेकज ज्ञान' प्राप्त होता है।

जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्तु तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः।।53

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्।।54

जाति, लक्षण और देश से भेद का निश्चय न होने के कारण, समान प्रतीत होने वाले दो पदार्थों का उस विवेकजज्ञान से निश्चय हो जाता है।

विवेकज ज्ञान, बिना किसी निमित्त के अपनी प्रतिभा से स्वतः उत्पन्न होने वाला अर्थात् अनौपदेशिक, सूक्ष्म-स्थूल, व्यवहित-अव्यवहित आदि सब पदार्थों को विषय बनाने वाला, पदार्थों के अतीत, अनागत आदि रूपों को विषय बनाने वाला और क्रमिकता से रहित होता है।

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति।।55

बुद्धि और पुरुष के मध्य शुद्धि की समानता-सी हो जाने पर कैवल्य होता है, ऐसा समझना चाहिये।

कैवल्यपाद

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः।।1

सिद्धियाँ जन्म, ओषधि, मन्त्र, तप और समाधि के माध्यम से उत्पन्न होती हैं।

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्।।2

शरीर, इन्द्रियों आदि का विलक्षण क्षमताओं से युक्त होकर भिन्नजातीय वाला हो जाना, प्रकृति अर्थात् उपादान कारणों की अपेक्षित पूर्ति से होता है।

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्।।3

सिद्धियों का निमित्त अर्थात् योगाङ्गों का अनुष्ठान उपादान तत्त्वों की आपूर्ति का प्रयोजक अर्थात् प्रेरक नहीं है, बल्कि उस योगाङ्गानुष्ठान के द्वारा आपूर्तिविषयक बाधा का निवारण तो होता है, किसान के समान।

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्।।4

निर्माण किये हुए चित्त अस्मिता से निर्मित होते हैं।

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम्।।5

प्रवृत्ति के भेद में एक चित्त, अनेक चित्तों का नियामक होता है।

तत्र ध्यानजमनाशयम्।।6

जन्म आदि द्वारा सामर्थ्यवान् हुए चित्तों में ध्यानप्रक्रिया के द्वारा अर्थात् समाधि के द्वारा सामर्थ्यवान हुआ चि त्त वासनाओं से रहित होता है।

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्।।7

योगी का कर्म पाप-पुण्य से रहित होता है तथा अन्य अयोगी व्यक्तियों का कर्म पुण्यात्मक, अपुण्यात्मक व पुण्य-पापात्मक इन तीन प्रकार का होता है।

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम्।।8

उन त्रिविध कर्मों से उनके विपाक के अनुरूप ही वासनाओं का प्रकटीकरण होता है।

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्।।9

जाति, देश और काल से व्यवहित वासनाओं का परस्पर सामीप्य है, स्मृति और संस्कारों की एकरूपता होने से।

तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात्।।10

उन वासनाओं का अनादित्व ही मानना चाहिये, जीवन की आकांक्षा के नित्य होने से।

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः।।11

हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन के माध्यम से इकट्ठी होने से, इन हेतु-फल आदि कारणों का अभाव हो जाने पर, उन वासनाओं का भी अभाव हो जाता है।

अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद् धर्माणाम्।।12

वस्तु का अतीतभाव और अनागतभाव अस्तित्व की दृष्टि से बना रहता है, धर्मों का कालभेद होने से।

ते व्यक्तसूक्ष्माः गुणात्मानः।।13

वे पदार्थ के अतीत, वर्तमान व अनागत धर्म, जो कि व्यक्त और अव्यक्त होते हैं, गुणस्वरूप है।

परिणामैकत्वाद् वस्तुतत्त्वम्।।14

गुणों का पृथक्-पृथक् आत्यन्तिक परिणाम एक होने से सृष्टि के सभी पदार्थों की पृथक्-पृथक् वस्तुतत्त्वता है।

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः।।15

वस्तु की समानता होने पर भी चित्तों के द्वारा होने वाले बोध में भिन्नता होने से चित्त और वस्तु की पृथक्-पृथक् अवस्थिति है।

न च एकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात्।।16

'चित्त के अधीन वस्तु की सत्ता होती है' यह भी नहीं माना जा सकता क्योंकि जब चित्त के द्वारा वह वस्तु नहीं जानी जा रही होगी, तब क्या होगा, उस वस्तु के अस्तित्व आदि का ?

तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम्।।17

चित्त को बाह्य वस्तु कभी ज्ञात, कभी अज्ञात रहती है, चित्त के उस बाह्यवस्तु के उपराग की अपेक्षा रखने वाला होने से।

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्या- परिणामित्वात्।।18

अपरिणामी होने से चित्त के स्वामी पुरुष को चित्त की वृत्तियाँ सदैव ज्ञात रहती हैं।

न तत् स्वाभासं दृश्यत्वात्।।19

एकसमये चोभयानवधारणम्।।20

वह चित्त अपने स्वरूप को स्वतः ही जानने वाला नहीं है, दृश्य होने से और चित्त के द्वारा एक ही समय में विषयबोध तथा विषय का बोध करते स्वयं के स्वरूप को जानना संभव नहीं है।

चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसंकरश्च।।21

विषय का बोध करने वाले चित्त को एक अन्य चित्त का दृश्य मानने से बुद्धि की बुद्धि का अतिप्रसंग रूप दोष उपस्थित होगा और स्मृतियों का संकर रूपी दोष भी आ जायेगा।

चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम्।।22

प्रतिसंक्रम से रहित चेतनशक्ति (द्रष्टा आत्मा) के समीप विषयाकार चित्त के प्राप्त होने पर, चिति को अपने चित्त का अनुभव हो जाता है।

द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्।।23

द्रष्टा और दृश्य दोनों से रँगा हुआ चित्त सब स्वरूपों वाला प्रतीत होता है।

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात्।।24

वह चित्त अनगिनत वासनाओं से चित्रित हुआ भी अन्य के लिये होता है, संहत्यकारी होने के कारण।

विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः।।25

चित्त-पुरुष की परस्पर भिन्नता रूप विशेष तथ्य का साक्षात्कार कर लेने वाले योगी की आत्मविषयक जिज्ञासायें समाप्त हो जाती हैं।

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्।।26

तब अर्थात् चित्त-पुरुष की परस्पर भिन्नता को साक्षात् जान लेने पर योगी के चित्त का वृत्तिक प्रवाह विवेकमार्ग संचारी और कैवल्य रूप गन्तव्य के अभिमुख हो जाता है।

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः।।27

उस विवेकज्ञानयुक्त चित्त के छिद्रों में विवेकज्ञानरहित अज्ञानमय वृत्तियाँ भी उदय हो जाती हैं, क्षीयमाण पूर्ववर्ती व्युत्थान के संस्कारों के कारण से।

हानमेषां क्लेशवदुक्तम्।।28

मध्य-मध्य में उदित होने वाली इन अज्ञानमय वृत्तियों के संस्कारों की निवृत्ति, क्लेशात्मक संस्कारों की निवृत्ति के समान बतायी गयी समझनी चाहिये।

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः।।29

विवेकख्याति में भी अनुराग न रखने वाले योगी को पूर्णरूप में विवेकख्याति प्राप्त होती है जिससे उसे धर्ममेध नामक समाधि-दशा प्राप्त होती है।

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः।।30

उस धर्ममेघ समाधि से योगी के अविद्या आदि क्लेश तथा कर्माशय की समाप्ति हो जाती है।

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्।।31

अविद्या आदि क्लेशों तथा कर्माशय की निवृत्ति हो जाने पर, सब आवरणों और मलों से रहित हुए चित्त के ज्ञानात्मक प्रकाश के असीम हो जाने से योगी पुरुष के लिये ज्ञेय-विषय अत्यल्प रह जाता है।

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् ।।32

धर्ममेघ समाधि के द्वारा क्लेशों व कर्माशय की निवृत्ति हो जाने के बाद कृतकार्य हुए सत्व आदि गुणों के परिणाम क्रम की भी समाप्ति हो जाती है।

क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः।।33

क्षण के साम्मुख्य से बाधित होनेवाला व परिणाम के अवसान पर गृहीत होने वाला 'क्रम' कहा गया है।

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति।।34

पुरुष के प्रयोजन से विरत हुए सत्व-रज-तम गुणों का अपने कारण मूल प्रकृति में लीन हो जाना 'आत्मा की कैवल्यावस्था' है अथवा ऐसा भी समझ सकते हैं कि अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित चेतनशक्ति की अवस्था 'कैवल्यावस्था' है।

गीतासार

गीतामृतम्

॥ अथ गीतामाहात्म्यम् ॥

गीताशास्त्रमिदं पुण्यं यः पठेत्प्रयतः पुमान्।
विष्णोः पदमवाप्नोति भयशोकादिवर्जितः॥
गीताध्ययनशीलस्य प्राणायामपरस्य च।
नैव सन्ति हि पापानि पूर्वजन्मकृतानि च॥
भारतामृतसर्वस्वं विष्णोर्वक्त्राद्विनिःसृतम्।
गीतागङ्गोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते॥
सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

प्रथमोऽध्यायः

[अर्जुन का विषाद]

धृतराष्ट्र उवाच

१– धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय॥1/1॥

धृतराष्ट्र ने संजय से पूछा : हे संजय! जब मेरे और पांडु के पुत्र युद्ध करने की इच्छा से कुरुक्षेत्र की पुण्य-भूमि में एकत्रित हुए तब उन्होंने क्या किया? ॥1/1॥

संजय उवाच

2– दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसंगम्य राजा बचनमब्रवीत्॥1/2॥

संजय ने कहा : तब राजा दुर्योधन पांडवों की सेना को व्यूह रच कर खड़ी देखकर द्रोणाचार्य के निकट पहुँच कर उनसे कहने लगा ॥1/2॥

3– अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥1/10॥

इस प्रकार हमारी यह सेना जिसकी रक्षा स्वयं भीष्म कर रहे हैं अपरिमित है, जबकि पाण्डवों की सेना जिसकी रक्षा भीम कर रहे हैं बहुत परिमित है ॥1/10॥

4– तस्य संजनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान् ॥1/12॥

यह सब देखकर दुर्योधन के हृदय में हर्ष उत्पन्न करने के लिए कौरवों में वृद्ध प्रतापी भीष्म

पितामह ने सिंह की गर्जना करके अपना शंख फूँका ॥1/12॥

5– **ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।**

माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ॥1/14॥

जब कौरवों की तरफ़ से युद्ध के शंख फूँके जाने लगे, भेरियाँ, ढोल और नगाड़े बज उठे तब अन्तिम क्षण में सन्धि की जो धीमी–सी आशा थी वह जाती रही। इसके बाद सफ़ेद घोड़ों से जुते हुए विशाल रथ में बैठे श्रीकृष्ण और अर्जुन ने भी अपने दिव्य शंख बजाये जिससे यह सबको सूचित हो गया कि अगर कौरव युद्ध के लिए कटिबद्ध हैं तो पाण्डव भी युद्ध के लिए तैयार हैं ॥1/14॥

6– **अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः।**

प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पांडवः ॥1/20॥

हे राजन्! जो चारों तरफ़ से भयानक घोष उत्पन्न हो रहा था शस्त्र चलने की तैयारी हो चुकी थी, धृतराष्ट्र के पुत्र व्यूह–रचना में अपने–अपने मोर्चे पर खड़े थे, तब इस सबको देखकर अर्जुन ने अपना धनुष उठाकर ॥1/20॥

7– **हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।**

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत॥1/21॥

हृषीकेश (श्री कृष्ण) को यह वाक्य कहा कि हे अच्युत! मरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में ले जाकर खड़ा कीजिये ॥1/21॥

8– **एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।**
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्॥1/24॥

हे भारत (भरत वंश से उत्पन्न होने वाले धृतराष्ट्र)! गुडाकेश (अर्जुन) के ऐसा कहने पर हृषीकेश (कृष्ण अर्थ) ने उस उत्तम रथ को दोनों सेनाओं के बीच में ले जाकर खड़ा कर दिया ॥1/24॥

9– **भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।**
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान्कुरूनिति॥1/25॥

भीष्म, द्रोण तथा अन्य सब राजाओं के सामने रथ को खड़ा करके श्री कृष्ण ने अर्जुन को कहाः 'हे पार्थ! इन सब इकट्ठे खड़े हुए कौरवों को देख लो' ॥1/25॥

10– **तत्रापश्यत्स्थितान् पार्थः पितॄनथ पितामहान्।**
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा॥1/26॥

वहाँ पार्थ (पृथा के पुत्र अर्जुन) ने देखा कि पिता, दादा, आचार्य, मामा, भ्राता, पुत्र, पौत्र तथा सखा--सब युद्ध के लिए खड़े थे ॥ 1/26॥

11– **श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।**

तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान्॥1/27॥

युद्ध करने वालों में श्वसुर भी थे, सुहृद भी थे, दोनों सेनाओं में इस प्रकार के निकटतम सम्बन्धी मौजूद थे। इन सब बन्धु-बान्धवों को कुन्ती-पुत्र अर्जुन युद्ध के लिए आमने-सामने खड़ा देखकर ।।1/27।।

12– **कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।**

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्।।1/28।।

परम करुणा से, भरे हुए हृदय से, उदास होकर इस प्रकार कहने लगाः हे कृष्ण! इन अपने लोगों को युद्ध के लिए व्याकुल होकर अपने सामने खड़े देखकर ।।1/28।।

13– **सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।**

वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।।1/29।।

मेरे अंग शिथिल हो रहे हैं, मुँह सूखा जा रहा है, शरीर में कँपकपी उठ रही है, रोम खड़े हो रहे हैं ।।1/29।।

14– **निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।**

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे।।1/31।।

हे केशव! मुझे सब लक्षण विपरीत दिखाई दे रहे हैं, युद्ध में अपने बन्धु-बान्धवों की हत्या करके कुछ भला होने वाला मुझे नहीं दीख पड़ता ।।1/31।।

15– **न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।**
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा।।1/32।।

हे कृष्ण! मुझे विजय की इच्छा नहीं है और न ही अब राज्य की इच्छा है, न सुखों की इच्छा है। हे गोविन्द! हमें राज्य लेकर क्या करना है, भोगों को भोग कर क्या करना है, जीवित रह कर भी क्या करना है ।।1/32।।

16– **येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।**
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च।।1/33।।

जिनके लिये हमने राज्य, भोग तथा सुख की इच्छा की थी, वे सब प्राण तथा धन का मोह त्याग कर युद्ध में आ खड़े हुए हैं ।।1/33।।

17– **आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।**
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा।।1/34।।

आचार्य, पिता, पुत्र, पितामह, मामा, श्वशुर, पौत्र, साले तथा अन्य सम्बन्धी युद्ध-भूमि में आ खड़े हुए हैं ।।1/34।।

18– **यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।**
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्।।1/38।।

यद्यपि ये लोग लोभ से बुद्धि खो बैठने के कारण कुल के क्षय से होने वाले दोष तथा मित्र-द्रोह करने के पाप को नहीं देख पा रहे ।।1/38।।

19– **अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।**
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः॥1/41॥

जब कुटुम्ब तथा समाज में अधर्म फैल जाता है, तब हे वार्ष्णेय! कुटुम्ब तथा समाज की स्त्रियाँ बिगड़ जाती हैं, भ्रष्ट हो जाती हैं, जब स्त्रियाँ भ्रष्ट हो जाती हैं, तब वर्ण-संकर हो जाता है, विभिन्न जातियों का मिश्रण हो जाता है ॥1/41॥

20– **दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः।**
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥1/43॥

कुल का हनन करने वाले लोगों के वर्ण-संकरता उत्पन्न करने वाले इन दोषों के कारण जाति-धर्म तथा सदा से चले आ रहे कुल-धर्म नष्ट हो जाते हैं--न समाज की परंपराएँ बनी रहती हैं, न कुल की परंपराएँ बनी रहती हैं ॥1/43॥

21– **अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।**
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥1/45॥

अहो! हम लोग बड़ा भारी पाप करने लगे हैं जो राज्य के सुख के लोभ से अपने बन्धु-बान्धवों से युद्ध करने के लिये तैयार हो गये हैं ॥1/45॥

22– **यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।**
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥1/46॥

यदि धृतराष्ट्र के पुत्र हाथ में शस्त्र लेकर मुझ निःशस्त्र को रण में मार दें और मैं कुछ भी प्रतीकार न करूँ, उनका मुकाबिला न करूँ तो मेरे लिए तो यह कहीं अधिक अच्छा होगा ॥1/46॥

23– **एवमुक्त्वार्जुनः सङ्ख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।**
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः॥1/47॥

हे धृतराष्ट्र! ऐसा कहकर शोकाकुल अर्जुन युद्ध-भूमि में अपना धनुष-बाण छोड़कर रथ के पिछले भाग में बैठ गया ॥1/47॥

द्वितीयोऽध्यायः

संजय उवाच

24– **तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।**
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः॥2/1॥

संजय ने कहा : हे धृतराष्ट्र! इस प्रकार करुणा से भरे हुए, आँखों में आँसू छलक रहे, दुःखित-हृदय अर्जुन से श्रीकृष्ण ने यह वचन कहा ॥2/1॥

श्री भगवानुवाच

25– **कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।**
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन॥2/2॥

श्री भगवान् ने अर्जुन से पूछा : हे अर्जुन! इस विषम समय में तुझे यह मोह कहाँ से आ लगा। ऐसे समय में इस प्रकार का मोह आर्य लोगों के लिए अनजाना है, स्वर्ग ले जाने वाला नहीं है, कीर्ति पर धब्बा लगाने वाला है ।।2/2।।

26– **क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।**
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप।।2/3।।
हे पार्थ! नामर्दी की तरफ़ पग मत बढ़ाओ, तुम्हें यह शोभा नहीं देता। अरे शत्रुओं को सता देने वाले! हृदय की इस दुर्बलता को छोड़कर उठ खड़े हो जाओ ।।2/3।।

अर्जुन उवाच

27– **कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।**
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।।2/7।।
अर्जुन ने श्रीकृष्ण को उत्तर दिया : दया की भावना ने दोष बनकर मेरे स्वभाव को ग्रस लिया है; इस संकट-काल में मेरा धर्म क्या है-- इस विषय में मेरा मन मूढ़ हो गया है। हे कृष्ण! मैं तुझे पूछता हूँ : जो निश्चित रूप से मेरे लिये भले की बात हो, वह बतला। मैं तेरा शिष्य हूँ; तेरी शरण में आया हूँ, मुझे उपदेश दे ।।2/7।।

संजय उवाच

28– **एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप।**
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह।।2/9।।
अर्जुन की उक्त बात धृतराष्ट्र को सुनाकर फिर संजय ने कहा : हे पराक्रमी राजन्! इस प्रकार गुडाकेश (अर्जुन) हृषीकेश को उक्त बात कहने के बाद यह कहकर चुप हो गया कि हे गोविन्द! --'न योत्स्ये'--मैं नहीं लड़ूँगा ।।2/9।।

29– **तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।**
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः।।2/10।।
हे भरतवंशी धृतराष्ट्र! दोनों सेनाओं के मध्य में खड़े होकर विषाद से ग्रसे हुए अर्जुन को श्रीकृष्ण ने हसते हुए ये वचन कहे ।।2/10।।

श्री भगवानुवाच

30– **अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।**
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः।।2/11।।
श्री भगवान् ने अर्जुन से कहा : जिनके लिये शोक नहीं करना चाहिये, उनके लिये तू शोक कर रहा है, और साथ ही ज्ञान की बातें करता है। पण्डित लोग न मरों के लिए शोक करते हैं, न जीवितों के लिये ।।2/11।।

31– **देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।**
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति।।2/13।।
जैसे देह धारण करने वाले आत्मा को इस देह में बालपन, यौवन और बुढ़ापा प्राप्त होता है, उसी प्रकार आत्मा को दूसरे देह की प्राप्ति हो जाती है। धीर व्यक्ति को इस बात से मोह

में नहीं पड़ जाना चाहिये ।।2/13।।

32– **नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।**
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।।2/16।।
जो 'नहीं' (असत्) है वह 'हो' (सत्) नहीं सकता, जो 'है' (सत्) उसका 'अभाव' नहीं हो सकता। तत्वदर्शी लोगों ने इन दोनों बातों के अन्ततक विचार करके यह ठीक-ठीक निष्कर्ष निकाल लिया है ।।2/16।।

33– **य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।**
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।।2/19।।
आत्मा के विषय में जो यह समझता है कि यह मारता है, या जो यह समझता है कि यह मारा जाता है, वे दोनों ही सत्य बात को नहीं जानते, यह आत्मा न तो मारता है, न मारा जाता है ।।2/19।।

34– **न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।**
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो, न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।2/20।।
यह आत्मा न कभी उत्पन्न होता है, न कभी मरता है। ऐसा भी नहीं है कि एक बार जब यह अस्तित्व में आ गया तब फिर दोबारा होने का नहीं। यह अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत है, पुरातन है। शरीर के वध हो जाने पर भी यह मरता नहीं है ।।2/20।।

35– **वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।**
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।।2/22।।
जैसे मनुष्य फटे-पुराने वस्त्रों को छोड़कर दूसरे नये वस्त्र पहन लेता है; वैसे ही यह देही, जीवात्मा, पुराने-पुराने जीर्ण-शीर्ण शरीरों को छोड़कर नये शरीरों को प्राप्त करता है, धारण कर लेता है ।।2/22।।

36– **नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।**
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।।2/23।।
इस आत्मा को शस्त्र छेद नहीं सकते, न इसको अग्नि जला सकती है, और न इसे पानी गीला कर सकता है, न वायु इसे सुखा सकता है ।।2/23।।

37– **जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।**
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।।2/27।।
क्योंकि जो जन्मा है उसकी मृत्यु निश्चित है और जो मर चुका है, उसका जन्म निश्चित है। इसलिये इस 'अपरिहार्य'--अर्थात् जिसे टाला नहीं जा सकता--ऐसी बात के लिये तुझे शोक करना उचित नहीं है ।।2/27।।

['स्व-धर्म' की दृष्टि के द्वारा अर्जुन के मोह का निरसन]

38– **स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।**
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते।।2/31।।
इसके अतिरिक्त 'स्व-धर्म'--अपने कर्तव्य--को देखते हुए भी हिम्मत हारना उचित नहीं

है। क्षत्रिय के लिये धर्म-युद्ध से बढ़कर और कोई कर्तव्य नहीं है ।।2/31।।

39– **हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।**
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः।।2/37।।
अगर तू युद्ध में मर गया तो स्वर्ग को जायेगा, और जीत गया तब तो पृथ्वी का राज भोगेगा। इसलिये, हे कुन्ती के पुत्र! युद्ध के लिये निश्चित करके उठ खड़ा हो ।।2/37।।

40– **सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।**
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।।2/38।।
सुख-दुःख को, लाभ और हानि को, जय और पराजय को एक-समान समझकर, फिर युद्ध के लिये जुट जा, इस प्रकार तुझे पाप नहीं लगेगा ।।2/38।।

41– **नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।**
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।।2/40।।
यहाँ, अर्थात् कर्म-योग में प्रारम्भ किये हुए कर्म का कभी नाश नहीं होता, और उल्टा फल मिल जाय--ऐसा दोष भी नहीं होता। कर्म-योग रूपी धर्म का थोड़ा-सा भी आचरण बड़े भय से मनुष्य की रक्षा करता है ।।2/40।।

42– **व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।**
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।।2/41।।
हे कुरुनन्दन! कर्म-योग के इस मार्ग में 'व्यवसायात्मिका' बुद्धि तो एक ही है; 'अव्यवसायी' लोगों की बुद्धियाँ एक न होकर अनेक शाखाओं में बँटी होती हैं, और अनन्त होती हैं ।।2/41।।

43– **भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।**
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते।।2/44।।
उक्त प्रकार के लोग जो भोग और ऐश्वर्य की बातों में ही गर्क हैं, जिनके चित्त योग और ऐश्वर्य की कामना से ही हरे हुए हैं, उनकी बुद्धि समाधि में व्यवसायात्मक नहीं होती, स्थिर नहीं होती, (वे जब समाधि में, एकान्त में बैठते हैं तब मन चंचल हो उठता है-- हमने इस 'भोग' की आकांक्षा की थी, यह 'ऐश्वर्य' चाहा था, यह नहीं मिला, वह नहीं मिला-- इस परेशानी में पड़ जाते हैं, उनका मन शान्त नहीं होता) ।।2/44।।

44– **त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।**
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।।2/45।।
हे अर्जुन! वेदों के वर्णन का विषय (प्रकृति के) तीन गुण हैं, तू तीन गुणों से अलग हो जा, द्वन्दों से मुक्त हो जा, योग-क्षेम की चिन्ता छोड़ दे, (आत्मा के) सत्त्व-भाव में नित्य स्थित हो जा, आत्म-बल वाला बन ।।2/45।।

45– **कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।**
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।2/47।।

तुझे केवल कर्म करने का अधिकार है--अर्थात् केवल कर्म करना तेरे हाथ में है; कर्मों के फलों पर तेरा अधिकार कभी नहीं है अर्थात् फल मिलना या न मिलना कभी भी तेरे हाथ में नहीं है; इसलिये अमुक कर्म का अमुक फल अवश्य मिले--यह हेतु, यह इच्छा मन में रखकर काम करने वाला तू न बन; अकर्म अर्थात् कर्म के त्याग के प्रति तेरा अनुराग न हो ।।2/47।।

46– **योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।**
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।।2/48।।

हे धनंजय! योगस्थ होकर, कर्म-योग में स्थित होकर, कर्म के फल की आसक्ति को छोड़कर, कर्म की सिद्धि या असिद्धि दोनों अवस्थाओं में समता की मनोवृत्ति को धारण करके कर्म कर। कर्म-फल मिलने या न मिलने दोनों अवस्थाओं में मन की सम अवस्था रहे--इसी को योग कहते हैं ।।2/48।।

47– **बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।**
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।।2/50।।

जो बुद्धि-योगी (बुद्धियुक्त) है, वह सुकृत तथा दुष्कृत दोनों यहीं छोड़ देता है। इस लिये तू योग (कर्म-योग) में जुट जा। योग सब कामों को कुशलता से करने का नाम है ।।2/50।।

अर्जुन उवाच

[स्थित-प्रज्ञा के लक्षण]

48– **स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।**
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्।।2/54।।

अर्जुन ने कहा : हे केशव! जो व्यक्ति स्थिर-बुद्धिवाला है, स्थित-प्रज्ञ है, जो समाधिस्थ है (जिसका वर्णन आपने अभी किया), वह किस प्रकार का होता है? इस के स्थिर-बुद्धिवाले, स्थित-प्रज्ञ और समाधिस्थ व्यक्ति को किस ढंग से बोलना चाहिये, किस ढंग से बैठना चाहिये, किस ढंग से चलना चाहिये (उसके लक्षण क्या हैं) ।।2/54।।

श्री भगवानुवाच

49– **प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।**
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।।2/55।।

श्री भगवान् ने कहा : हे पार्थ! जब मनुष्य अपने मन में गति करने वाली सब कामनाओं को त्याग देता है, और जब वह अपने आप से अपने में ही सन्तुष्ट रहने लगता है, (अपने सन्तोष के लिये बाहर के विषयों पर आश्रित नहीं रहता), तब वह 'स्थित-प्रज्ञ' (स्थिर-बुद्धिवाला) कहलाता है ।।2/55।।

50– **दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।**
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।2/56।।

जिसका मन दुखों से उद्विग्न, बेचैन नहीं हो जाता, सुखों में जिसकी लालसा मिट जाती है, जो राग, भय और क्रोध से मुक्त हो जाता है, वह स्थिर-बुद्धिवाला व्यक्ति 'मुनि' कहलाता है ।।2/56।।

51– **यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।**
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।2/58।।
जैसे कछुआ अपने अंगों को सब ओर से सिकोड़ कर अपने खोल के अन्दर खींच लेता है, उसी प्रकार जब कोई पुरुष इन्द्रियों के विषयों में से अपनी इन्द्रियों को खींच लेता है तब समझो कि उसकी प्रज्ञा (बुद्धि) स्थिर हुई ।।2/58।।

52– **विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।**
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।।2/59।।
देहधारी मनुष्य के निराहार होने पर विषय तो निवृत हो जाते हैं, परन्तु उन विषयों का रस, उनके प्रति लालसा बनी रहती है। यह लालसा पर-ब्रह्म का दर्शन करने पर निवृत हो जाती है ।।2/59।।

53– **ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।**
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।।2/62।।
इन्द्रियों के विषयों का ध्यान करते-करते पुरुष का उन विषयों के साथ 'संग' (Association) पैदा हो जाता है; विषयों के लगातार संग से, ध्यान से उनके प्रति 'कामना' (Attachment) पैदा हो जाती है; कामना पैदा हो जाने के बाद (जब उसकी पूर्ति में बाधा पड़ती है तब) क्रोध पैदा होता है ।।2/62।।

54– **क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।**
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।।2/63।।
क्रोध से अत्यन्त मूढ़-भाव पैदा हो जाता है, मूढ़-भाव से स्मृति में भ्रम हो जाता है, स्मृति में भ्रम हो जाने से बुद्धि का नाश हो जाता है, बुद्धि के नष्ट हो जाने से व्यक्ति ही नष्ट हो जाता है ।।2/63।।

55– **रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियै श्चरन्।**
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।।2/64।।
जो व्यक्ति राग-द्वेष से रहित होकर, अपनी इन्द्रियों को अपने वश में करके,अपने अन्तःकरण को विशेष प्रकार से बनाकर, शिक्षित करके संसार के विषयों में विचरता है वह प्रसन्नता को प्राप्त होता है ।।2/64।।

56– **प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।**
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।।2/65।।
जब मनुष्य प्रसन्नता में, प्रसाद के भाव में रहने लगता है, तब उसके सबःदुख दूर हो जाते हैं। प्रसन्न चित्त वाले व्यक्ति की बुद्धि शीघ्र ही स्थिर हो जाती है ।।2/65।।

57– **नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।**
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्।।2/66।।

जो व्यक्ति ब्रह्म के साथ 'युक्त' अर्थात् जुड़ा हुआ नहीं है उसमें स्थिर-'बुद्धि' नहीं होती, जो व्यक्ति ब्रह्म के साथ 'युक्त' अर्थात् जुड़ा हुआ नहीं है उसमें 'भावना' भी नहीं होती। जिसमें 'भावना' नहीं उसमें 'शान्ति' भी नहीं, जिसे 'शान्ति' नहीं उसे 'सुख' कहाँ? ।।2/66।।

58– **या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।**
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।।2/69।।

सब प्राणियों के लिए जो रात होती है--उसमें संयमी पुरुष जागता रहता है, जिसमें सब प्राणी जागते होते हैं वह आँखें खोलकर देखनेवाले मुनि के लिए रात होती है ।।2/69।।

59– **विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।**
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति।।2/71।।

जो पुरुष सब कामनाओं को, इच्छाओं को त्याग देता है, 'निस्पृह' होकर, लालसा से रहित होकर, 'निर्मम' होकर, ममता से रहित होकर, 'निरहंकार' होकर, अहंकार की, 'मैं' की भावना को छोड़कर विचरता है, वह शान्ति को प्राप्त होता है ।।2/71।।

60– **एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।**
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति।।2/72।।

हे अर्जुन! यही ब्राह्मी-स्थिति है (संसार में स्थित होने के स्थान में ब्रह्म में स्थित हो जाना है), इसे प्राप्त हो जाने पर कोई भी 'मोह' नहीं रहता। अगर अन्तकाल में भी किसी को यह स्थिति प्राप्त हो जाये तो वह ब्रह्म-निर्वाण को प्राप्त होता है, ब्रह्म में लीन हो जाता है या महान् निर्वाण को प्राप्त करता है ।।2/72।।

तृतीयोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

61– **ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।**
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव।।3/1।।

अर्जुन ने कहा : हे जनार्दन! अगर तेरे मत के अनुसार 'कर्म-योग' (योग-दृष्टि) की अपेक्षा 'बुद्धि-योग' (सांख्य-दृष्टि) श्रेष्ठ है, तो हे केशव! तू मुझे युद्ध रूपी इस भयंकर कर्म में क्यों लगा रहा है? ।।3/1।।

श्री भगवानुवाच

62– **लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।**
ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।।3/3।।

श्री भगवान् ने कहा : हे निष्पाप अर्जुन! मैंने पहले यह बतलाया है कि इस लोक में जीवन की दो निष्ठाएं, दो प्रवृत्तियाँ हैं, दो मार्ग हैं : सांख्य-दृष्टि से विचार करने वालों के लिये 'ज्ञान-योग तथा योग-दृष्टि से विचार करने वालों के लिये 'कर्म-योग' ।।3/3।।

63– **न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।**
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥3/5॥

कोई मनुष्य क्षण भर भी कुछ-न-कुछ कर्म किये बिना नहीं रह सकता। मनुष्य अपनी प्रकृति से, स्वभाव से पैदा होने वाले गुणों द्वारा विवश बना दिया जाता है और वे उससे कर्म कराया ही करते हैं ॥3/5॥

64– **कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।**
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥3/6॥

अगर कोई समझे कि हठ से कर्मेन्द्रियों को रोक देने मात्र से, उनका संयम करने से वह कर्म से बच जायेगा, तो उसे समझ लेना चाहिये कि अगर उसने कर्मेन्द्रियों को काम से रोक दिया है, परन्तु मनसे विषयों का स्मरण करता रहा है, तो वह भूला हुआ है, भ्रम में है, मिथ्याचारी है, उसका आचार मिथ्या है, व्यर्थ है ॥3/6॥

65– **नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।**
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥3/8॥

तेरे लिये जो कर्म नियत है, तेरा जो 'स्व-धर्म' है, वह कर्म तू कर, कर्म करना कर्म न करने की अपेक्षा अधिक अच्छा है। बिना कर्म के तो यह शरीर-यात्रा भी नहीं चल सकती ॥3/8॥

66– **यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।**
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥3/9॥

(इसमें सन्देह नहीं कि) यह सारा संसार कर्म के बन्धन में डालने वाला है, (बन्धन में न पड़ें इसलिये कई लोग कम के त्याग का ही उपदेश देते हैं, परन्तु) जो कर्म यज्ञार्थ अर्थात् 'यज्ञ' की भावना से किया जाता है उसमें बन्धन नहीं पड़ता। इसलिये हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन। मुक्त-संग होकर, अर्थात् कर्म की आसक्ति छोड़ कर, सदा कर्म करते रहो। (यज्ञ की भावना से किये गये कर्म से कर्म का बन्धन नहीं पड़ता।) ॥3/9॥

67– **सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।**
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥3/10॥

प्रजापति ने प्राचीन काल में प्राणियों को यज्ञ की भावना के साथ उत्पन्न किया था और कहा था कि (जैसे मैंने तुम्हें यज्ञ की भावना से उत्पन्न किया है वैसे) तुम भी यज्ञ की भावना से ही सांसारिक सूत्र को चलाओ। (अगर तुम यज्ञ की भावना से हर काम को करोगे तो) यह यज्ञ तुम्हारे लिये काम-धुक् होगा, तुम्हारी इच्छाओं को पूर्ण करेगा ॥3/10॥

68– **यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।**
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥3/13॥

जो सन्त लोग यज्ञ के बाद बची हुई वस्तु- 'यज्ञ-शेष' का उपभोग करते हैं वे सब पापों से मुक्त हो जाते हैं। पापी लोग जो सिर्फ़ अपने लिये भोजन पकाते हैं वे तो मानों पाप ही का भोजन करते हैं ॥3/13॥

69– **अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।**
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः।।3/14।।

(यज्ञ का इतना माहात्म्य है कि हमारे भोजन का यह अन्न भी जब यज्ञ करता है, अपना सर्वस्य अर्पण कर देता है, अपने को कुर्बान कर देता है तब) इस अन्न से सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होते हैं। (और यह अन्न कैसे पैदा होता?) जब पर्जन्य (मानो यज्ञ करता हुआ अपना सर्वस्य अर्पण कर देता है, अपने को कुर्बान कर देता है तब इससे) अन्न की उत्पत्ति होती है। (और पर्जन्य कैसे पैदा होता है?) पर्जन्य भी यज्ञ से पैदा होता है। (नदी-नालों के, समुद्र के जल जब अपने को कुर्बान कर देते हैं, जल से वाष्प बन जाते हैं, तब उन्हीं के यज्ञ रूप कर्म से पर्जन्य का, बादल का निर्माण होता है।) (यज्ञ का इतना माहात्म्य है, परन्तु इस महामहिम) यज्ञ की उत्पत्ति कर्म से होती है (उस कर्म से जिसका वर्णन गीता के इस अध्याय में किया जा रहा है) ।।3/14।।

70– **कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।**
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।।3/15।।

कर्म की उत्पत्ति 'ज्ञान' से (ब्रह्म शब्द का अर्थ 'वेद' है, 'वेद' का अर्थ 'ज्ञान' है) होती है, 'ज्ञान' की उत्पत्ति 'अक्षर'-अविनाशी परमेश्वर से होती है। यह अक्षर सर्वव्यापी परमेश्वर सदा यज्ञ में विद्यमान रहता है ।।3/15।।

71– **यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।**
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।।3/17।।

जो मनुष्य अपने आत्मा के अन्दर ही रति (आनन्द) अनुभव करता है, जो आत्मा से ही तृप्त हे, आत्मा में ही सन्तुष्ट है, उसके लिये ऐसा कोई कार्य नहीं रहता जिसे करना आवश्यक हो ।।3/17।।

72– **तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।**
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः।।3/19।।

(क्योंकि तू आत्म-रत, आत्म-तृप्त, आत्म तुष्ट नहीं है, क्योंकि तू कृत-अकृत को अपने स्वभाव के कारण नहीं छोड़ सकता) इसलिये (तेरे सामने तो रास्ता यही रह जाता है कि) तू अनासक्त रहकर कर्म करता हुआ मनुष्य परम पद को प्राप्त कर लेता है ।।3/19।।

[कर्म-योग पर फिर बल]

73– **कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।**
लोकसङ्ग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि।।3/20।।

जनक आदि लोग कर्म द्वारा ही सिद्धि तक पहुँचे थे। यह देखते हुए कि (तू राज-घराने का है, जन साधारण के सम्मुख तुझे आदर्श स्थापित चाहिये), लोक संग्रह अर्थात् लोगों को संगृहीत (संगठित) या इकट्ठा बनाये रखने के उद्देश्य से भी तुझे 'कर्म' करना चाहिये ।।3/20।।

74– **यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।**
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।।3/21।।

श्रेष्ठ मनुष्य जो-जो कुछ करता है वही-कुछ इतर (साधारण) जन करने लगते हैं। वह जैसा आदर्श उपस्थित करता है, उसी का लोग अनुगमन करने लगते हैं ।।3/21।।

75– **न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।**
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।।3/22।।

हे पार्थ! मेरे लिये तीनों लोकों में कोई भी ऐसा कर्म नहीं है जो करना आवश्यक हो, और न कोई ऐसा पदार्थ है जो प्राप्त होना चाहिये पर मुझे प्राप्त न हो, परन्तु फिर भी मैं कर्म में लगा ही रहता हूँ ।।3/22।।

76– **यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।**
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।3/23।।

यदि मैं सावधान होकर कर्म में न बरतूँ तो हे पार्थ! सब लोग सब प्रकार से मेरे ही मार्ग का अनुकरण करने लगे (और कर्म करना ही छोड़ दें) ।।3/23।।

77– **उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।**
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः।।3/24।।

यदि मैं कर्म करना छोड़ दूँ, (मेरा अनुकरण करने के कारण लोग भी कर्म करना छोड़ दें) तो ये सब लोक नष्ट हो जायें, मैं संसार में अव्यवस्था फैलाने वाला बन जाऊँ और इन लोगों का विनाश कर बैठूँ ।। 3/24।।

78– **न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।**
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्।।3/26।।

कर्म में 'आसक्त' अज्ञानी लोगों की बुद्धि में भेद, दुविधा उत्पन्न न करे। ज्ञानी व्यक्ति स्वयं कर्म में युक्त हुआ-हुआ सब कामों को स्वयं तो ठीक-ठीक करे ही, परन्तु दूसरों को प्रेमपूर्वक प्रेरणा देकर उनसे भी 'कर्म' कराये ।।3/26।।

79– **प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।**
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।।3/27।।

सत्त्व-रज-तम--इन गुणों वाली हमारी संपूर्ण प्रकृति ही 'कर्म' करती है। हमारी प्रकृति के इन गुणों द्वारा किये जानेवाले कर्मों को अहंकार के कारण यह मूढ़ मनुष्य यह समझता है कि मैं अर्थात् आत्मा 'कर्ता' हूँ, कर्मों को करने वाला हूँ। (अगर वह समझ जाये कि मैं अर्थात् आत्मा 'कर्त्ता' ही नहीं हूँ, मेरी प्रकृति ही 'कर्त्ता' है, तब फल में आसक्ति अपने-आप विदा हो जाये) ।।3/27।।

80– **तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।**
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते।।3/28।।

परन्तु हे महाबाहु अर्जुन! जो व्यक्ति तत्त्ववित् है, तत्त्व को जानता है, और 'गुण' तथा 'कर्म' इन दोनों के विभाग को, भेद को समझता है, वह यह जानकर कि (मैं कर्म नहीं कर रहा) मेरे सत्त्व-रज-तम--ये 'गुण' ही प्रकृत के सत्त्व-रज-तम 'गुणों' पर किया कर रहे हैं, (कर्म-फल में) आसक्त नहीं होता ।।3/28।।

81– **श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।**
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥3/35॥

(अपनी प्रकृति, अपने स्वभाव के विरुद्ध मनुष्य न चले--इस बात का फिर दोहराते हुए कहते हैं कि) अपूर्ण रूप से भी पालन किये जा रहे 'स्व-धर्म', अपनी प्रकृति, अपने स्वभाव के अनुसार चलना अच्छा है बजाय इसके कि हर 'पर-धर्म' पर, दूसरे की प्रकृति, दूसरे के स्वभाव पर कितनी ही अच्छी तरह क्यों न चलें। 'स्वधर्म', अपनी प्रकृति, अपने स्वभाव का पालन करते हुए मृत्यु भी हो जाय, तो भी वह कहीं भली है, क्योंकि 'पर-धर्म' का पालन, दूसरे की प्रकृति, दूसरे के स्वभाव के अनुसार चलना बहुत भयजनक है ॥3/35॥

82– **आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।**
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥3/39॥

हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन! ज्ञानी पुरुष का ज्ञान काम की शक्ल में इस नित्य के वैरी से ढका रहता है। यह काम 'दुष्पूर' है, 'अनल' है। ('दुष्पूर' का अर्थ है--जिसका पेट कभी पूरा (भरा) ही न जा सके, जो कभी तृप्त ही न हो सके; 'अनल' का अर्थ है--'जो कभी अलम् अर्थात् बस ही न करे, और लाओ, और लाओ ही कहता रहे। 'अनल' का अर्थ 'अग्नि' भी है, 'अनल' अर्थात् जो आग की तरह सब भस्म करता जाता है और जिसमें भोग की, कामना की लालसा बढ़ती जाती है।) ॥3/39॥

83– **इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।**
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥3/42॥

कहते हैं कि 'इन्द्रियाँ' श्रेष्ठ हैं, इन्द्रियों की अपेक्षा 'मन' अधिक श्रेष्ठ है, मन की अपेक्षा 'बुद्धि' अधिक श्रेष्ठ है, बुद्धि की अपेक्षा 'वह'--आत्मा--अधिक श्रेष्ठ है ॥3/42॥

84– **एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।**
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥3/43॥

हे महाबाहु! इस प्रकार आत्मा को बुद्धि से भी श्रेष्ठ जानकर, आत्मा का आत्मा से नियन्त्रण कर के कामना-रूप दुर्जय शत्रु को मार डाल ॥3/43॥

चतुर्थोऽध्यायः

[ब्रह्म-विद्या की प्राचान परम्परा]

श्री भगवानुवाच

85– **बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।**
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥4/5॥

हे अर्जुन! मेरे और तेरे भी बहुत-से जन्म व्यतीत हो चुके हैं। हे परंतप, शत्रुओं को तपाने वाले! उन सब जन्मों को मैं जानता हूँ, तू नहीं जानता ॥4/5॥

86– **यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।**
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥4/7॥

हे भरत-कुलोत्पन्न अर्जुन! जब-जब ही धर्म का ह्रास होता है, अधर्म का उत्थान होता है तब-तब मैं जन्म लेता हूँ ॥4/7॥

87– **परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।**
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥4/8॥

साधुओं की रक्षा के लिये, दुष्टों के विनाश के लिये, धर्म की संस्थापना के लिये मैं युग-युग में जन्म लेता हूँ ॥4/8॥

[कर्म का विवेचन]

88– **ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।**
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥4/11॥

जो लोग जिस भावना से मेरे पास आते हैं (कोई फल की भावना से, कोई अपने को भगवान् के अर्पण करने की भावना से), मैं उन्हें उसी प्रकार अपनाता हूँ। हे अर्जुन! मनुष्य सब ओर से मेरे मार्ग का अनुगमन करते हैं ॥4/11॥

89– **ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।**
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥4/24॥

(यज्ञ में 'मैं' मिट जाता है, 'तू' रह जाता है, निष्काम-कर्म में भी अपनापन नहीं रहता, सब-कुछ भगवान् को अर्पण करके कर्म किया जाता है। इसी भाव को व्यक्त करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं :) यज्ञ में प्रयुक्त होने वाला स्रुवा ब्रह्म है, यज्ञ में दी जानेवाली हवि ब्रह्म है, जीवन-यज्ञ में ब्रह्म द्वारा रूपी अग्नि में होम हो रहा है, ब्रह्म रूपी कर्म की समाधि द्वारा उसे ब्रह्म को ही प्राप्त करना है, वही उसका गन्तव्य है। (सब तरफ़ ब्रह्म-ही-ब्रह्म देखकर जो कर्म करता है, स्रुवा, हवि, होम भी जो ब्रह्म रूप ही समझता है, इस ब्रह्म-यज्ञ के कारण वह कर्म के बन्धन में नहीं पड़ता) ॥4/24॥

90– **दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।**
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति॥4/25॥

कुछ योगी देवताओं को लक्ष्य में रखकर यज्ञ करते हैं, कोई दूसरे योगी ब्रह्माग्नि में यज्ञ द्वारा ही यज्ञ करते हैं ॥4/25

91– **द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।**
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥4/28॥

इस प्रकार तीक्ष्ण व्रत का आचरण करने वाले कुछ यति अपनी भौतिक सम्पत्ति का होम करके 'द्रव्य-यज्ञ' करते हैं, कुछ यति तपस्या करके 'तपो-यज्ञ' करते हैं, कुछ यति योग-विद्या का अभ्यास करके 'योग-यज्ञ' करते हैं, कुछ यति स्वाध्याय करके 'ज्ञान-यज्ञ' करते हैं ॥4/28॥

92– **अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।**
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः।।4/29।।

कुछ लोग जो प्राणायाम के अभ्यासी हैं वे प्राण तथा अपान की गति रोक कर प्राण का अपान में और अपान का प्राण में होम करते हैं। (प्राणायाम की परिभाषा में प्राण को अन्दर खींचना 'पूरक' कहलाता है, बाहर फेंकना 'रेचक' कहलाता है; इस प्रकरण में अन्दर आने वाले श्वास को 'प्राण' तथा बाहर निकलने वाले श्वास को 'अपान' कहा है। यह भी प्राण-अपान का, पूरक-रेचक का एक प्रकार का गीता की परिभाषा में यज्ञ ही है।) ।।4/29।।

93– **अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।**
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः।।4/30।।

और कुछ ऐसे लोग भी हैं जो आहार को नियमित करके प्राणों से प्राणों में आहुति देते हैं (आहार इतना नियमित कर लेते हैं कि मानों 'प्राण-यज्ञ' द्वारा ही जीते हैं)। ये सब (जिनका वर्णन ऊपर किया गया है) यज्ञविद् हैं, यज्ञ के रहस्य को जानने वाले हैं, और यज्ञमय जीवन द्वारा उनके पाप नष्ट हो जाते हैं ।।4/30।।

94– **यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।**
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।।4/31।।

जो लोग यज्ञ से अवशिष्ट अमृत रूपी भोजन का सेवन करते हैं वे सनातन ब्रह्म को प्राप्त करते हैं हे करुश्रेष्ठ अर्जुन! जो व्यक्ति यज्ञ नहीं करता उसके लिये यह लोक नहीं के बराबर है, दूसरा लोक तो उसे कहाँ प्राप्त हो सकता है ।।4/31।।

['कर्म' और 'ज्ञान' की तुलना]

95– **श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।**
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।।4/33।।

हे परंतप अर्जुन! 'द्रव्य-यज्ञ', जिसका सब से पहले वर्णन किया गया, उसकी अपेक्षा 'ज्ञान-यज्ञ' जिसका सबसे अन्त में वर्णन किया गया, अधिक श्रेष्ठ है क्योंकि सब 'कर्म' जाकर 'ज्ञान' में समाप्त हो जाते हैं (क्योंकि 'द्रव्य-यज्ञ' में जो 'कर्म' किया जाता है उसका ध्येय तो ब्रह्म की प्राप्ति ही है, परन्तु ब्रह्म की प्राप्ति उसके स्वरूप के 'ज्ञान' के बिना हो नहीं सकती। अगर द्रव्य-यज्ञ के 'कर्म' से ब्रह्म के स्वरूप का 'ज्ञान' ही होना है, तो इसमें सन्देह ही क्या हो सकता है कि 'ज्ञान-यज्ञ' अन्य यज्ञों की अपेक्षा उत्कृष्ट है। 'द्रव्य-यज्ञ' का अर्थ है अपनी सम्पत्ति का लोक-कल्याण के लिये होम कर देना; 'ज्ञान-यज्ञ' का अर्थ है अविद्या का होम कर देना। इन दोनों में 'ज्ञान-यज्ञ' श्रेष्ठ है--यह का अभिप्राय है) ।।4/33।।

96– **यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।**
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।।4/37।।

हे अर्जुन! जैसे अग्नि प्रदीप्त होने पर इंधन को भस्मसात् कर देती है वैसे जब ज्ञानाग्नि

प्रदीप्त हो जाती है तब वह सब कर्मों के बन्धनों को भस्मसात् कर देती है ।।4/37।।

97– **न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।**
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ।।4/38।।
ज्ञान के सदृश इस पृथ्वी पर पवित्र वस्तु दूसरी कोई नहीं है। जिसका कर्म-योग सिद्ध हो जाता है वह काल पाकर अपने आत्मा में अपने-आप ज्ञान को पा लेता है ।।4/38।।

98– **श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।**
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।।4/39।।
(जैसे 'कर्म' सिद्ध होते-होते 'ज्ञान' का उदय होता है वैसे) 'श्रद्धा' वाला भी जब पीछे पड़ जाता है, इन्द्रियों को वश में कर लेता है, तब वह भी 'ज्ञान' को प्राप्त कर तुरन्त ही परम शान्ति को पा जाता है ।।4/39।।

99– **अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।**
नाऽयं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।।4/40।।
जो स्वयं कुछ जानता नहीं और दूसरे में उसकी श्रद्धा नहीं और हर बात में संशय करता रहता है--ऐसा संशयालु स्वभाव का व्यक्ति नष्ट हो जाता है। ऐसे हर बात में संशय करने वाले व्यक्ति के लिये न यह लोक है, न वह लोक है। ऐसे व्यक्ति को सुख नहीं प्राप्त हो सकता है ।।4/40।।

पञ्चमोऽध्यायः

[योग-मार्ग]

अर्जुन उवाच

100– **संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।**
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्।।5/1।।
अर्जुन ने कहा : तुम एक बार 'कर्मयोग' की प्रशंसा करते हो और फिर दूसरी बार 'ज्ञानयोग' (संन्यास) की प्रशंसा करते हो। इन दोनों में से एक मार्ग को बतलाओ जो इन दोनों में से निश्चित रूप में अधिक श्रेयस्कर हो ।।5/1।।

श्री भगवानुवाच

101– **संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।**
तयोस्तु कर्मसन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते।।5/2।।
श्री भगवान् ने कहा : ज्ञानयोग और कर्मयोग-ये दोनों निःश्रेयस अर्थात् परम कल्याण को देने वाले हैं, परन्तु इन दोनों में से कर्म को त्याग देने वाले ज्ञान-योग की अपेक्षा कर्म-योग (निष्काम कर्म) अधिक अच्छा है ।।5/2।।

102– **साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।**
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।।5/4।।
बाल-बुद्धि के लोग ज्ञान-योग (सांख्य) तथा कर्म-योग (योग) को पृथक् बतलाते हैं, पंडित लोग नहीं। जो व्यक्ति इन दोनों में से किसी एक मार्ग पर भी ठीक तौर से डट

जाता है, वह दोनों का फल पा लेता है ।।5/4।।

103– **यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।**
एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।।5/5।।
सांख्य-मार्ग वाले, कर्मों को त्यागनेवाले, ज्ञान-योगी जिस स्थिति को पाते हैं, योग-मार्ग वाले, कर्मों को करने वाले, कर्म-योगी भी उसी स्थिति को पहुँचते हैं। जो व्यक्ति सांख्य और योग--इन दोनों को एक देखता है वही ठीक-ठीक देखता है ।।5/5।।

104– **ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।**
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।।5/10।।
जो व्यक्ति आसक्ति को त्याग कर ब्रह्म में अर्पण करके कर्म करता है वह पाप से लिप्त नहीं होता, ठीक ऐसे जैसे कमल का पत्ता (पानी में रहता हुआ भी) पानी से अलिप्त रहता है ।।5/10।।

105– **कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।**
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये।।5/11।।
कर्मयोगी लोग आसक्ति को त्याग कर, आत्मशुद्धि के लिये केवल शरीर, केवल मन, केवल बुद्धि तथा केवल इन्द्रियों से काम करते हैं ।।5/11।।

[कर्मयोगी के लक्षण]

106– **विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।**
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।।5/18।।
(जैसे द्वितीय अध्याय में 'स्थित-प्रज्ञ' के लक्षण कहे गये हैं वैसे पंचम अध्याय में 'कर्म-योगी' के लक्षण कहे गये हैं। कर्म-योगी के लक्षण क्या हैं? जब कर्म-योगी की बुद्धि परम ब्रह्म में रम जाती है, उसका अन्तःकरण ब्रह्म में लीन हो जाता है, वह तन्निष्ठ तथा तत्परायण हो जाता है, उसके पाप ज्ञान-वारि से धुल जाते हैं तब) वह पंडित हो जाता है, उसका अज्ञान जाता रहता है, वह समदर्शी हो जाता है, सबको एक दृष्टि से देखता है, विद्या तथा विनय से युक्त ब्राह्मण में, गाय, हाथी, कुत्ते तथा चांडाल में उसकी भेद-बुद्धि नहीं रहती, वह सबको समान देखता है ।।5/18।।

107– **इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।**
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः।।5/19।।
(ज्ञान द्वारा) जिनका मन साम्यावस्था में स्थिर हो जाता है वे यहीं-के-यहीं, इस पृथ्वी पर ही संसार को जीत लेते हैं। क्योंकि ब्रह्म भी निर्दोष तथा सम है, सब में एक समान है इसलिये ये साम्य-बुद्धि वाले व्यक्ति ब्रह्म में स्थिर रहते हैं ।।5/19।।

108– **शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।**
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः।।5/23।।
(श्रीकृष्ण ने जिस प्राकर के 'कर्म-योगी' का चित्र खींचा क्या वह इस जन्म में संभव

है--इस शंका का अर्जुन के मन में उठ खड़ा होना स्वाभाविक है। इसलिये श्रीकृष्ण कहते हैं:) शरीर के छूटने से पहले, जो 'काम' और क्रोध' से उत्पन्न होने वोल वेग को सहन कर सकता है ('काम'-'क्रोध' के वशीभूत नहीं होता) वही युक्त है, अर्थात् कर्म-योगी है, वह मनुष्य सुखी है ।।5/23।।

109– **योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।**
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति।।5/24।।
जो व्यक्ति (बाहर के विषयों में सुख खोजने के स्थान में) अपने भीतर ही सुख पा जाता है, अपने अन्तर में ही आराम पा जाता है, अपने भीतर ही ज्योति पा जाता है, वह योगी ब्रह्म रूप हो जाता है और ब्रह्म अर्थात् परम निर्वाण अर्थात् मुक्ति को (ब्रह्म-निर्वाण को) पा जाता है ।।5/24।।

110– **लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।**
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः।।5/25।।
वे ऋषि जिनकी द्वैध-बुद्धि छूट गई है (जो सबको आत्मवत् समझते हैं--'शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः), जिनके पाप क्षीण हो गये हैं (ज्ञान रूपी पवित्र जल से जिनका पाप रूपी पङ्क धुल गया है--'ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः), जिन्होंने अपने को संयम में ढाल लिया है, जो सब प्राणियों के हित में रत हैं, वे ब्रह्म अर्थात् परम, निर्वाण अर्थात् मुक्ति को (ब्रह्म-निर्वाण को) प्राप्त करते हैं ।।5/25।।

111– **स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।**
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ।।5/27।।
बाह्य विषयों के स्पर्श को बाहर करके, दृष्टि को भौहों के बीच में जमाकर, नासिका में चलने वाले प्राण तथा अपान को समान करके--।।5/27।।

112– **यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।**
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः।।5/28।।
इन्द्रियों, मन तथा बुद्धि को वश में करने वाला, मोक्ष पाने के लिये कटिबद्ध, इच्छा, भय तथा क्रोध से रहित जो मुनि है वह सदा मुक्त ही है ।।5/28।।

षष्ठोऽध्यायः

[कर्म-योगी तथा ज्ञान-योगी एक ही हैं]

श्री भगवानुवाच

113– **अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।**
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः।।6/1।।
श्री भगवान् ने कहा : जो व्यक्ति अपने कर्तव्य-कर्म को करते हुए कर्म-फल पर आश्रित नहीं रहता (कर्म-फल मिलेगा, इस आशा से कर्म नहीं करता अपितु यह उसका

कर्तव्य है, यह समझ कर करता है), वह संन्यासी भी है, योगी भी है। यह समझना कि जिसने अग्निहोत्र आदि कर्मों को छोड़ दिया या जिसने सब कर्म छोड़ दिये, निठल्ला बैठ गया, वह संन्यासी है, वह योगी है--यह गलत है ।।6/1।।

[आत्मोद्धार]

114– **उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।**
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।।6/5।।
मनुष्य को चाहिए कि वह अपना उद्धार अपने-आप ही करे, अपने-आपको कभी नीचे न गिरने दे। मनुष्य स्वयं ही अपना मित्र, स्वयं ही अपना शत्रु है ।।6/5।।

115– **जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।**
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः।।6/7।।
जिसने आत्मा अर्थात् अपने मन को जीत लिया है, जो सम्पूर्ण रूप से शान्त हो गया है, उसका 'परम-आत्मा' (Higher Self) सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख, मान-अपमान में सम रहता है, एक-सरीखा रहता है (उसमें क्षोभ नहीं पैदा होता) ।।6/7।।

116– **ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।**
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः।।6/8।।
जिसका आत्मा ज्ञान तथा विज्ञान से तृप्त है, जो कूटस्थ है, अपरिवर्तनशील है, जिसने अपनी इन्द्रियों को जीत लिया है, जिसके लिये मिट्टी का ढेला, पत्थर और सुवर्ण एक-सामन हैं, ऐसे कर्म-योगी को 'युक्त' अर्थात् भगवान् में जुड़ा हुआ कहा जाता है ।।6/8।।

[ध्यान-योग की साधना]

117– **शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।**
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्।।6/11।।
स्वच्छ स्थान अपना स्थिर आसन बिछाकर, ऐसी जगह जो न अधिक ऊँची हो, न अधिक नीची हो, और आसन पर पहले कुशा, फिर मृगछाला और उस पर वस्त्र बिछाकर ।।6/11।।

118– **तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।**
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये।।6/12।।
वहाँ मन को एकाग्र कर, चित्त तथा इन्द्रियों की क्रियाओं को रोक कर, आसन पर बैठकर आत्म-शुद्धि अर्थात् अन्तःकरण या मन की शुद्धि के लिये योग में जुट जाय ।।6/12।।

119– **समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।**
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।।6/13।।
अपनी पीठ, सिर और गर्दन को सीधा अर्थात् एक सीध में तथा अचल रखकर अर्थात् बिना हिले-डुले, स्थिर होता हुआ, नासा के अग्रभाग पर दृष्टि जमाकर, अन्य किसी दिशा में न देखते हुए ।।6/13।।

120– **नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।**
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन।।6/16।।

हे अर्जुन! योग उसके लिये नहीं है जो बहुत खाता है, न उसके लिए है जो बिल्कुल खाता ही नहीं है। यह उसके लिये भी नहीं है जो अत्यधिक सोता है, न उसके लिये जो अधिक जागता रहता है ।।6/16।।

121– **युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।**
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।।6/17।।

(ऐसे व्यक्ति में इस प्रकार का अनुशासित जीवन भर देता है जिससे वह) उसके दुःख दूर कर देता है ।।6/17।।

122– **यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।**
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्।।6/22।।

जिसे पा जाने पर यह समझता है कि इससे बड़ा दूसरा कोई लाभ नहीं है, और जिसमें स्थित हो जाने पर यह बड़े-से-बड़े दुःख से भी विचलित नहीं होता ।।6/22।।

123– **सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।**
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।6/29।।

सर्वत्र 'सम-भाव' से देखनेवाला योगयुक्त व्यक्ति सब प्राणियों में अपने को और अपने में सब प्राणियों को देखता है ।।6/29।।

124– **यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।**
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।।6/30।।

जो मुझे सब जगह देखता है और सब वस्तुओं को मुझ में देखता है वह मेरी दृष्टि से ओझल नहीं होता और मैं उसकी दृष्टि से ओझल नहीं होता ।।6/30।।

125– **सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।**
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।।6/31।।

जो एकत्व में स्थित होकर (मेरे साथ एकत्व बुद्धि को मन में रखकर) सब प्राणियों में स्थित रहने वाले मेरी उपासना करता है वह सब तरह से बर्तता हुआ भी मुझ में ही बर्तता है (बाहर से वह कितना ही व्यावहारिक जगत् में डूबा हो, भीतर से वह ब्रह्म में लीन रहता है) ।।6/31।।

[मन की चंचलता]

अर्जुन उवाच

126– **चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।**
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।।6/34।।

अर्जुन ने कहा : हे कृष्ण! मन (बड़ा) चंचल है, मथ डालने वाला है, बलवान् है, हठी है। मैं तो मानता हूँ कि उसका निग्रह करना वायु को वश में करने के समान दुष्कर है, कठिन है ।।6/34।।

[मन के संयम का उपाय]

श्री भगवानुवाच

127– **असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।**
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥6/35॥

श्री भगवान् ने कहा : हे महाबाहु! निस्सन्देह मन का निग्रह करना बड़ा कठिन है, यह चंचल है, किन्तु हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन! वह 'अभ्यास' तथा 'वैराग्य' से वश में किया जा सकता है ॥6/35॥

128– **प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।**
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥6/41॥

जिस स्थान को पुण्यशाली लोग पाते हैं उसे पाकर वहाँ बहुत समय तक रहने के उपरान्त वह योग-भ्रष्ट, पवित्र और श्रीमान् लोगों के घर में जन्म लेता है ॥6/41॥

129– **अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।**
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥6/42॥

अथवा, वह बुद्धिमान योगियों के कुल में ही जन्म लेता है। श्रीमान् लोगों के स्थान में योगियों के कुल में ही जो जन्म लेना है वह तो इस संसार में और भी दुर्लभ है ॥6/42॥

130– **पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।**
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥6/44॥

वह अपने पिछले जन्म के अभ्यास के द्वारा विवश-सा होकर योग की ओर खिंचता है क्योंकि योग का जिज्ञासु तक भी सकाम विधि-विधान करने वाले से, 'शब्द-ब्रह्म' तक सीमित रह जाने वाले से, ब्रह्म की सिर्फ़ शाब्दिक चर्चा करने वाले से आगे निकल जाता है ॥6/44॥

131– **प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।**
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥6/45॥

वहाँ से आगे, प्रयत्न से योग के लिये परिश्रम करता हुआ योगी पाप से छूटकर अनेक जन्म-जन्मान्तरों में अपने आप को पूर्ण बनाता हुआ परम गति को प्राप्त होता है ॥6/45॥

132– **तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।**
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥6/46॥

योगी तपस्वियों से बड़ा है, वह ज्ञानियों से भी बड़ा माना जाता है। योगी कर्मकांडियों से भी बड़ा है, इसलिये हे अर्जुन! तू योगी हो जा ॥6/46॥

133– **योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।**
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥6/47॥

सब योगियों में भी उसे मैं युक्तमत (सबसे अधिक मेरे साथ जुड़ा हुआ, सर्व-श्रेष्ठ)

मानता हूँ जो मुझ में अपने अन्तरात्मा को डालकर (मुझ में मन पिरोकर) श्रद्धापूर्वक मेरा भजन करता है ।।6/47।।

सप्तमोऽध्यायः

[ज्ञान-विज्ञान द्वारा समग्र ईश्वर का ध्यान]

श्री भगवानुवाच

134– **मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।**
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।।7/3।।
श्री भगवान् ने कहा : हजारों मनुष्यों में से कोई-एक योग की सिद्धि के लिये यत्न करता है और जो लोग यत्न करते हुए योग की सिद्धि कर लेते हैं उनमें से कोई-एक ही मुझे तात्विक रूप में जान पाता है ।।7/3।।

135– **मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।**
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।।7/7।।
हे धनंजय! (मैं इस जड़-चेतन का प्रभव तथा प्रलय हूँ), मुझ से परे अन्य कोई वस्तु नहीं है। जो-कुछ भी संसार में है, वह-सब मुझ में उसी प्रकार पिरोया हुआ है जैसे मणियाँ धागे में पिरोई रहती हैं ।।7/7।।

136– **रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।**
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु।।7/8।।
हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन! जलों में रस मैं हूँ, चन्द्र तथा सूर्य की प्रभा मैं हूँ, सब वेदों में ओंकार मैं हूँ, आकाश में शब्द मैं हूँ, पुरुषों में पौरुष मैं हूँ ।।7/8।।

137– **बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।**
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।।7/10।।
हे पार्थ! सब वस्तुओं का सनातन बीज मुझे समझ। बुद्धिमानों की बुद्धि मैं हूँ, तेजस्वियों का तेज मैं हूँ ।।7/10।।

138– **बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।**
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।।7/11।।
बलवानों का 'काम' और 'राग' से रहित बल मैं हूँ। हे भरत-कुल में श्रेष्ठ अर्जुन! मैं सब प्राणियों में धर्म के विरुद्ध न रहने वाली लालसा हूँ ।।7/11।।

[प्रकृति के गुणों के कारण भ्रम अर्थात् मोह]

139– **त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।**
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्।।7/13।।
(यद्यपि प्रकृति के सत्व, रज, तम--ये तीन गुण मेरे कारण ही टिके हुए हैं तो भी) यह

सारा जगत् प्रकृति के इन तीन गुणों को ही सब-कुछ समझ कर, इनके द्वारा भ्रम में पड़कर मुझे नहीं पहचान पाता। (इसलिये नहीं पहचान पाता क्योंकि) मैं इन तीनों गुणों से परे हूँ और अविनाशी हूँ। (और मनुष्य की दृष्टि इन तीन गुणों तक ही सीमित रह कर आगे नहीं जा पाती) ।।7/13।।

[भक्तों के चार प्रकार]

140– **चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।**
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥7/16॥

हे भरत-कुल में श्रेष्ठ अर्जुन! चार प्रकार के सुकर्मी मेरी भक्ति करते हैं। वे हैं- आर्त (दुःखी), जिज्ञासु, अर्थार्थी (प्रत्येक बात में अर्थ देखने वाला) तथा ज्ञानी ।।7/16।।

141– **तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।**
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥7/17॥

उन सब में ज्ञानी व्यक्ति, जो सदा ब्रह्म के साथ युक्त रहता है, जो एक-भक्ति है, अनन्य-भक्ति वाला है, सबसे विशिष्ट है, सबसे श्रेष्ठ है क्योंकि मैं इस प्रकार के ज्ञानी भक्त को अत्यन्त प्रिय हूँ, और वह मुझे अत्यन्त प्रिय है ।।7/17।।

142– **उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।**
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥7/18॥

वैसे तो उक्त सभी श्रेष्ठ हैं, परन्तु ज्ञानी को तो मैं अपना आत्मा ही मानता हूँ क्योंकि वह अपनी आत्मा को मेरे साथ युक्त करके, जोड़कर मुझ में स्थित होकर अति उत्तम गति को पाता है ।।7/18।।

143– **बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।**
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥7/19॥

अनेक जन्मों के अनन्तर यह अनुभव हो जाने से कि- ''जो-कुछ है सब वासुदेव ही है'' -ज्ञानवान् मुझे पा लेता है। ऐसा महात्मा अत्यन्त कठिनता से मिलता है। ('वासुदेव' का अर्थ है--'सर्वभूताधिवासश्च वासुदेवस्ततो ह्यहम्' [शान्ति पर्व, 341-40]-'मैं स प्राणियों में वास करता हूँ इसलिये मेरा नाम वासुदेव है') ।।7/19।।

[ईश्वर के अतिरिक्त अन्य देवताओं के उपासक]

144– **कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।**
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥7/20॥

अपनी-अपनी प्रकृति अर्थात् स्वभाव के अनुसार प्रेरित हुए-हुए, भिन्न-भिन्न कामनाओं के कारण जिनका ज्ञान हरा जा चुका है, वे भिन्न-भिन्न नियमों का आश्रय लेकर (भगवान् के अतिरिक्त) अन्य देवताओं की उपासना करते हैं। (अमुक कामना अमुक नियम के अनुसार पूरी होनी चाहिए-इस खडपच में पड़कर लोग भगवान् में दिल लगाने के स्थान में कामनाओं को पूर्ण करने वाले देवताओं की उपासना करने लगते हैं और

संसार में भिन्न-भिन्न मतवादों को खड़ा कर देते हैं) ।।7/20।।

145– **योयो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।**
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥7/21॥

जो-जो भक्त श्रद्धापूर्वक जिस-जिस देवता के रूप की पूजा करना चाहता है मैं देवता के उस-उस रूप में उसकी श्रद्धा को अचल बना देता हूँ ।।7/21।।

146– **स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।**
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥7/22॥

ऐसा भक्त उस श्रद्धा से युक्त होकर उस देवता की आराधना करना चाहता है और उससे ही वह अपनी कामनाओं को पा जाता है, परन्तु वास्तव में उन कामनाओं को मैं ही पूर्ण कर रहा होता हूँ ।।7/22।।

147– **अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।**
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥7/23॥

परन्तु इन अल्प-बुद्धि वालों को जो फल मिलता है वह नाशवान् होता है। देवताओं की पूजा करने वाले लोग देवताओं को पाते हैं किन्तु मेरे भक्त मेरे ही पास पहुँचते हैं ।।7/23।।

[अज्ञान के कारण ईश्वर के विषय में भ्रम]

148– **अवयक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।**
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥7/24॥

बुद्धि-हीन लोग मुझ अव्यक्त को (देवताओं के रूप में व्यक्ति हुआ मानने लगते हैं (तभी वे भगवान् की भिन्न-भिन्न देवताओं के रूप में, व्यक्ति के रूप में उपासना करते हैं)। मेरे परम अविनाशी और जिसके सम्मुख दूसरा कोई उत्तम नहीं हैं ऐसे रूप को न जानते हुए (वे ऐसा करते हैं) ।।7/24।।

149– **नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।**
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥7/25॥

मैं अपनी योग-माया में ढके रहने के कारण सबको प्रकट रूप में प्रकाशित नहीं होता। योग-माया से ढके रहने के कारण यह मूढ़ मनुष्य मुझ अज तथा अव्यय को नहीं पहचानता ।।7/25।।

150– **वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।**
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥7/26।

हे अर्जुन! (मुझे तो मूढ मनुष्य नहीं पहचान पाते, परन्तु) मैं उन सब प्राणियों को जानता हूँ जो अतीत में हो चुके हैं, जो इस समय विद्यमान हैं और भविष्य में होने वाले हैं; मुझे कोई नहीं जानता ।।7/26।।

अष्टमोऽध्यायः

[अन्तकाल]

श्री भगवानुवाच

151– **अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।**
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः।।8/5।।

श्री भगवान् ने कहा : अन्तकाल में मुझे ही स्मरण करते-करते जो देह त्याग करता है वह मेरे स्वरूप को पाता है--इसमें कोई सन्देह नहीं ।।8/5।।

152– **यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।**
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।।8/6।।

हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन! जिस-जिस भावना को स्मरण करते हुए मनुष्य अन्तकाल में शरीर को छोड़ता है उस-उस भावना के रंगा होने के कारण वैसे कलेवर को प्राप्त होता है ।।8/6।।

153– **तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।**
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्।।8/7।।

इसलिये सब कालों में मुझे स्मरण करता रह और (जीवन के संग्राम में) जूझता रह। इस प्रकार मुझ में मन तथा बुद्धि अर्पित कर देने से तू निस्सन्देह मुझको ही प्राप्त होगा ।।8/7।।

154– **यदक्षरं वेदविदो वदन्ति, विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।**
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति, तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये।।8/11।।

वेद जानने वाले जिसे 'अक्षर' नाम से पुकारते हैं, वीतराग यति लोग जिसमें प्रवेश करते हैं, ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं उस 'ओंकार'-पद का मैं तेरे लिये संक्षेप से वर्णन करूँगा ।।8/11।।

155– **सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।**
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्।।8/12।।

156– **ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।**
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।।8/13।।

इन्द्रियों के सब द्वारों को संयम में रखकर, मन को हृदय में रोक कर, प्राण को अपने मूर्धा (मस्तक) में स्थिर करके, योग द्वारा समाधि में बैठकर--'ओ३म्'-- इस एक अक्षर रूपी ब्रह्म का उच्चारण और मेरा चिन्तन करता हुआ जो देह का त्याग करता हुआ संसार से प्रयाण करता है वह परम गति को, उच्चतम गति को प्राप्त करता है ।।8/12-13।।

157– **आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।**
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।।8/16।।

हे अर्जुन! ब्रह्म-लोक से लेकर जितने लोक हैं वहाँ से फिर पुनर्जन्म की तरह लौटना होता है, परन्तु मेरे पास पहुँच जाने के बाद फिर से जन्म नहीं लेना पड़ता ।।8/16।।

158– **अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।**
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥8/21॥
वह 'अव्यक्त' (जो प्रकृति से भी परे है) 'अक्षर' कहलाता है, अविनाशी कहलाता है, उसी को परम गति कहते हैं, सर्वोच्च अवस्था कहते हैं। इस अवस्था को प्राप्त कर फिर वहाँ से निवृत्ति नहीं होती, लौटना नहीं होता, वही मेरा परम धाम है, निवास-स्थान है ॥8/21॥

नवमोऽध्यायः

[गुह्य राजविद्या का उपदेश]

श्री भगवानुवाच

159– **मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।**
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥9/4॥
श्री भगवान् ने कहा : (मैं अव्यक्त हूँ फिर भी) इस सारे संसार को मैंने अपने अव्यक्त रूप द्वारा व्याप्त किया हुआ है। मुझमें सब प्राणी स्थित हैं, निवास करते हैं, मैं उनमें स्थित नहीं हूँ, मैं उनमें निवास नहीं करता ॥9/4॥

160– **अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।**
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥9/11॥
मानव-शरीर का जब मैं आश्रय लेता हूँ तब मूढ लोक मेरी अवज्ञा करते हैं, अवहेलना करते हैं (कोई किसी को छोटा, किसी को बड़ा, किसी को चाण्डाल, किसी को ब्राह्मण कहता है। ऊँच नीच का ऐसा भेदभाव करते हुए और मुनष्य-मनुष्य में अन्तर डालते हुए ये लोग ऐसा इसलिये करते हैं) क्योंकि वे मेरी परम प्रकृति को, उच्चतर प्रकृति को, सब प्राणियों में मैं ही बस रहा हूँ, सब प्राणियों का मैं ही महेश्वर हूँ--मेरे इस रूप को नहीं जान रहे होते (जो मेरे उच्चतर रूप को जान जाते हैं और यह समझते हैं कि मैं ही सब मनुष्यों में विविध रूप में शरीर धारण करता हूँ वे सब मनुष्यों को एक-समान दृष्टि से देखते हैं) ॥9/11॥

161– **अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।**
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥9/16॥
(भगवान् की लोग नाना रूपों में उपासना करते हैं परन्तु) मैं ही श्रौत-यज्ञ (ऋतु) हूँ, मैं ही स्मार्त-यज्ञ (यज्ञ) हूँ; मैं ही पितरों को दिया जाने वाला पिंडदान (स्वधा) हूँ; मैं ही अग्नि को दी जाने वाली ओषधि (सामग्री) हूँ, मैं ही मंत्र हूँ; मैं ही घृत हूँ, मैं ही अग्नि हूँ, मैं ही आहुति हूँ ॥9/16॥

162– **पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।**
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्साम यजुरेव च॥9/17॥
मैं इस जगत का पिता हूँ, माता हूँ, धारण करने वाला हूँ, पितामह हूँ, मैं ही जानने योग्य हूँ, मैं पवित्र ओंकार हूँ, ऋक्-साम-यजुर्वेद मैं ही हूँ ॥9/17॥

163– **गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।**
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥9/18॥
गति मैं हूँ, पोषक मैं हूँ, प्रभु मैं हूँ, साक्षी मैं हूँ, निवास मैं हूँ, शरण मैं हूँ, सुहृद् मैं हूँ, संसार की उत्पत्ति–विनाश–स्थिति मैं हूँ, मैं ही विश्राम का स्थान हूँ, अनश्वर बीज मैं हूँ ।।9/18।।

164– **अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।**
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥9/22॥
जो लोग अनन्य–भाव से मेरा चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, मुझ में रत रहने वाले उन भक्तजनों के 'योग–क्षेम का भारत मैं उठाता हूँ ।।9/22।।

[राजविद्या का साधन है--समर्पण]

165– **पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।**
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥9/26॥
जो–कोई मुझे भक्ति के साथ पत्ती, फूल, फल या थोड़ा–सा जल भी अर्पित करता है उस भक्ति–भाव से कुछ–न–कुछ करने की इच्छा वाले भक्त की भेंट को मैं (प्रसन्नता से) ग्रहण लेता हूँ ।।9/26।।

166– **यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।**
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥9/27॥
हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन! तू जो–कुछ करता है जो कुछ खाता है, जो–कुछ होम–हवन करता है और जो–कुछ तू दान देता है, जो–कुछ तपस्या करता है, उस सब को मुझे अर्पण करते हुए कर ।।9/27।।

167– **समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।**
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥ ॥9/29॥
मैं सब प्राणियों के लिय एक–सा हूँ। मुझे किसी से न द्वेष है, न प्रेम। जो भक्तिपूर्वक मुझे भजते हैं वे मुझे में हैं और मैं उनमें हूँ ।।929।।

168– **अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।**
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥9/30॥
अगर कोई दुराचारी–से–दुराचारी व्यक्ति भी अनन्य भाव से मुझे भजता है तो उसे साधु ही मानना चाहिये क्योंकि उसने अच्छे (मार्ग पर चलने का) संकल्प कर लिया है ।।9/30।।

169– **क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।**
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥9/31॥
(जब दुराचारी व्यक्ति अनन्यभाव से मुझे भजता है तब) वह जल्दी ही धर्मात्मा बन जाता है, उसे चिरस्थायी शान्ति प्राप्त हो जाती है। हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन! तू निश्चित रूप से जान ले--न मे भक्तः प्रणश्यति'--मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता ।।9/31।।

170– **मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।**
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥9/32॥
हे अर्जुन! चाहे कोई नीच कुल में ही उत्पन्न क्यों न हुआ हो, अगर वह मेरी शरण में आ जाता है, चाहे स्त्रियाँ हों, वैश्य हों, शूद्र हों–– वे भी परम गति को (मोक्ष को) प्राप्त करते हैं ॥9/32॥

171– **किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।**
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥9/33॥
(जब नीच कुल में उत्पन्न व्यक्ति भगवान् की शरण में आ जाने से परम गति को प्राप्त करते हैं) तब पुण्यवान् ब्राह्मणों और भक्त राजर्षियों की तो बात ही क्या? यह संसार अनित्य है, दुःखपूर्ण है, (ऐसे अनित्य तथा दुःखपूर्ण) संसार को पाकर (तेरा कल्याण इसी में है कि) तू मेरा भजन कर ॥9/34॥

172– **मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।**
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥9/34॥
मुझ में मन लगा, मेरा भक्त बन, मेरी पूजा कर, मुझे प्रणाम कर, इस प्रकार से अपने को मेरे साथ जोड़कर, 'मत्परायण' होकर तू मुझे ही पावेगा ॥3/34॥

दशमोऽध्यायः

[भगवान् की विभूतियाँ]

श्री भगवानुवाच

173– **हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।**
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे॥10/19॥
श्री भगवान् ने कहा : हे कुरु-कुल में श्रेष्ठ अर्जुन! बहुत अच्छा, मैं अब तुझे अपनी दिव्य विभूतियों का रूप बतलाऊँगा, परन्तु यह वर्णन केवल प्रधान विभूतियों का होगा क्योंकि मेरे विस्तार का तो कहीं अन्त नहीं है ॥10/19॥

174– **अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।**
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥10/20॥
हे अर्जुन! मैं प्राणियों के हृदय में बैठा हुआ आत्मा हूँ। मैं ही भूतमात्र का आदि, मध्य और अन्त हूँ ॥10/20॥

175– **आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।**
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी॥10/21॥
आदित्यों में विष्णु मैं हूँ, ज्योतियों में दमकता हुआ सूर्य मैं हूँ, मरुद्-गण में मरीचि मैं

हूँ, नक्षत्रों में चन्द्रमा मैं हूँ ।।10/21।।

176– **वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।**
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना॥10/22॥
वेदों में सामवेद मैं हूँ, देवों में इन्द्र मैं हूँ, इन्द्रियों में मन मैं हूँ, और प्राणियों में चेतना मैं हूँ ।।10/22।।

177– **रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।**
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्॥10/23॥
रुद्रों में शंकर मैं हूँ, यक्ष और राक्षसों में कुवेर मैं हूँ, वसुओं में अग्नि मैं हूँ, पर्वतों में मेरु मैं हूँ, ।।10/23।।

178– **पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।**
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः॥10/24॥
हे पार्थ! पुरोहितों में मुख्य बृहस्पति मुझे समझ। सेना-नायकों में स्कन्द (कार्तिकेय) मैं हूँ, जलाशयों में समुद्र मैं हूँ ।।10/24।।

179– **महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।**
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः॥10/25॥
महर्षियों में भृगु मैं हूँ, वाणी में ओंकार मैं हूँ, यज्ञों में जप-यज्ञ मैं हूँ, स्थावरों में हिमालय मैं हूँ ।।10/25।।

180– **अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।**
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः॥10/26॥
सब वृक्षों में पीपल मैं हूँ, देवर्षियों में नारद मैं हूँ, गंधर्वों में चित्ररथ मैं हूँ, सिद्धों मे कपिल मुनि मैं हूँ ।।10/26।।

181– **उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।**
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्॥10/27॥
घोड़ों में अमृत-मन्थन के समय निकला हुआ उच्चैःश्रवा मुझे समझ। मैं श्रेष्ठ हाथियों में इन्द्र का हाथी ऐरावत हूँ, मनुष्यों में मैं राजा हूँ ।।10/27।।

182– **आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।**
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः॥10/28॥
शस्त्रों में वज्र मैं हूँ, गायों में कामधेनु मैं हूँ, प्रजनन मे कामदेव मैं हूँ, सर्पों में वासुकि मैं हूँ ।।10/28।।

183– **अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।**
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्॥10/29॥
नागों में शेषनाग मैं हूँ, जलचरों में वरुण मैं हूँ, पितरों में अर्यमा मैं हूँ और नियम तथा व्यवस्था द्वारा संयमन करने वालों में यम मैं हूँ ।।10/29।।

184– **प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।**

मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्।।10/30।।

दैत्यों में प्रह्लाद मैं हूँ, गणना करने वाले में काल मैं हूँ पशुओं में सिंह मैं हूँ, पक्षियों में गरुड़ मैं हूँ ।।10/30।।

185– पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी।।10/31।।

पावन करने वालों में पवन मैं हूँ, शस्त्रधारियों में राम मैं हूँ, मच्छों में मगरमच्छ मैं हूँ, नदियों में गंगा मैं हूँ ।।10/31।।

186– सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्।।10/32।।

हे अर्जुन! सृष्टिमात्र का आदि, अन्त तथा मध्य भी मैं हूँ, विद्याओं में अध्यात्म-विद्या मैं हूँ, वाद-विवाद करने वालों का तर्क मैं हूँ ।।10/32।।

187– अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः।।10/33।।

अक्षरों में 'अकार' मैं हूँ, समासों में द्वन्द-समास मैं हूँ, अविनाशी काल मैं ही हूँ, सब दिशाओं में मुखवाला सृष्टि का विधाता मैं हूँ ।।10/33।।

188– मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा।।10/34।।

सबको हरने वाली मृत्यु मैं हूँ, भविष्य में होने वाली उत्पत्ति का कारण मैं हूँ, नारियों में कीर्ति, लक्ष्मी, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति, क्षमा मैं हूँ ।।10/34।।

189– बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः।।10/35।।

साम-गीतों में बृहत्-सास नाम का गीत मैं हूँ, छन्दों में गायत्री मैं हूँ, मासों में मार्गशीर्ष मैं हूँ, ऋषियों में वसन्त ऋतु मैं हूँ ।।10/35।।

190– द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्।।10/36।।

छलियों में द्यूत मैं हूँ, तेजस्वियों का तेज मैं हूँ, जय मैं हूँ, प्रयत्न मैं हूँ, सात्त्विक भाव वालों का सत्त्व मैं हूँ ।।10/36।।

191– वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः।।10/37।।

वृष्णि-कुल में वासुदेव मैं हूँ, पांडवों में धनञ्जय (अर्जुन) मैं हूँ, मुनियों में व्यास मैं हूँ, कवियों में उशना (शुक्राचार्य) कवि मैं हूँ ।।10/37।।

192– दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्।।10/38।।

दमन करने वाले शासकों का दंड मैं हूँ, जय चाहने वालों की नीति मैं हूँ, रहस्यपूर्ण वस्तुओं में मौन मैं हूँ, ज्ञानियों का ज्ञान मैं हूँ ।।10/38।।

193– **यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।**
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्।।10/39।।
हे अर्जुन! सब प्राणयों की उत्पत्ति का जो भी बीज है, कारण है, वह मैं हूँ। जो भी चर तथा अचर है, जंगम तथा स्थावर है, इनमें से ऐसा कुछ भी नहीं है जो मेरे बिना रह सके ।।10/39।।

194– **नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप।**
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया।।10/40।।
हे परन्तप! मेरी दिव्य विभूतियों का कोई अन्त नहीं है। यह जो मैंने विभूतियों का विस्तार तुझे बतलाया है, वह केवल दिग्दर्शन कराने के उद्देश्य से बतलाया है ।।10/40।।

195– **यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।**
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्।।10/41।।
(इस जगत् में) जो-जो वस्तु विभूतिवाली है, श्री वाली है, ऊर्जा वाली अर्थात् शक्तिशाली है, उस-उस को मेरे तेज के अंश से ही उत्पन्न हुआ समझ ।।10/41।।

196– **अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।**
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।।10/42।।
अथवा, हे अर्जुन! तुझे इस बहुत बड़े विस्तार को जानकर क्या करना है? (एक वाक्य) में यह समझ ले) कि अपने एक अंश मात्र से इस समूचे जगत् को थामे मैं ठहरा हुआ हूँ ।।10/42।।

एकादशोऽध्यायः

[अध्यात्म-ज्ञान से मोह का नाश]

अर्जुन उवाच

197– **मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।**
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्।।11/4।।
अर्जुन ने कहा : हे प्रभो! यदि तू समझता है कि मेरे लिये तेरा वह रूप दर्शन कर सकना संभव है, तो हे योगेश्वर! तू वह अपना अव्यय (अनश्वर) रूप मुझे दिखा ।।11/4।।

[भगवान् के अनेक रूप तथा दिव्य-दृष्टि]

श्री भगवानुवाच

198– **पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।**
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च।।11/5।।
श्री भगवान् ने कहा : हे पार्थ! तू मेरे सैकड़ों और हजारों रूपों को देख। वे नाना प्रकार

के हैं, दिव्य हैं, नाना वर्णों के हैं, नाना आकृतियों के हैं ।।11/5।।

199– **पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।**
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत॥11/6॥
हे भारत! आदित्यों, वसुओं, रुद्रों, दोनों अश्वि-कुमारों और मारुतों को देख। और भी अदृष्टपूर्व आश्चर्यों को देख, ऐसे आश्चर्य जो पहले कभी देखे नहीं नहीं गये ।।11/6।।

200– **न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।**
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वर्यम्॥11/8॥
परन्तु तू मुझे इन अपनी (मानवीय) आँखों से नहीं देख सकेगा, मैं तुझे 'दिव्य-चक्षु'-दिव्य-दृष्टि देता हूँ इस 'दिव्य-दृष्टि' से मेरी ईश्वरीय-शक्ति को देख ।।11/8।।

[अर्जुन द्वारा भगवान् के विश्व-रूप का दर्शन]

संजय उवाच

201– **एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगश्वरो हरिः।**
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वर्यम्॥11/9॥
संजय ने कहा : हे राजन्! इस प्रकार कह कर महान् योगेश्वर हरि (कृष्ण) ने पार्थ (अर्जुन) को अपना परम ईश्वरीय-रूप दिखलाया ।।11/9।।

202– **अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।**
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्॥11/10॥
वह रूप अनेक मुखों वाला था, अनेक नेत्रों वाला था, उसमें अनेक अद्भुत दृश्य थे, उसने अनेक दिव्य अलंकार धारण किये हुए थे, उसने अनेक दिव्य शस्त्र उठा रखे थे ।।11/10।।

203– **दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।**
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्॥11/11॥
उसने अनेक दिव्य मालाएँ और वस्त्र धारण किये हुए थे, उसके दिव्य सुगन्धित लेप लगे हुए थे, वह देव सब तरह से आश्चर्यमय था, अनन्त था, उसके मुख चारों तरफ़ थे ।।11/11।।

204– **दिवि सूर्यसहस्त्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।**
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः॥11/12॥
यदि आकाश में एक हजार सूर्यों की आभा एक-साथ दमक उठे, तो वह आभा उस महात्मा की आभा जैसी कदाचित् हो सके ।।11/12।।

205– **तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।**
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा॥11/13॥
वहाँ पांडव (अर्जुन) ने उस देवाधिदेव के शरीर में अनेक रूपों में बँटे हुए जगत् को एक ही जगह स्थित देखा, अर्थात् अनेक प्रकार से विभक्त हुआ समूचा जगत् एक रूप में विद्यमान देखा ।।11/13।।

206– **ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः।**
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत॥11/14॥

तब धनंजय (अर्जुन) आश्यर्चचकित और रोमांचित होकर, सिर झुकाकर हाथ जोड़कर बोला ।।11/14।।

अर्जुन उवाच

207– **अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।**
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप॥11/16॥

अर्जुन ने कहा : अनेक बाहु, अनेक मुख और अनेक नेत्रयुक्त आपको मैं देख रहा हूँ, अनन्त रूप वाले आपको मैं चारों तरफ़ देख रहा हूँ। हे विश्वेश्वर! विश्वरूप! आप का न तो अन्त, न मध्य और न फिर आदि ही मुझे कहीं दीख रहा है ।।11/16।।

[काल-रूप भगवान्]

श्री भगवानुवाच

208– **कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो, लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।**
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे, येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योद्धाः॥11/32॥

श्री भगवान् ने कहा : मैं लोकों को क्षय कर देने वाला 'काल हूँ; मैं विशाल रूप धारण कर गया हूँ; लोकों का संहार करने में 'प्रवृत्त' हूँ, लगा हुआ हूँ। (अर्जुन ने पूछा था – आपकी 'प्रवृत्ति'क्या है, आप किस बात में 'प्रवृत्त' हैं। उसका उत्तर दिया – मैं लोकों का संहार करने में 'प्रवृत्त' हूँ)। तू हो, न हो, तो भी सेनाओं में जो योद्धागण खड़े हैं– ये सब बच रह जाने वाले नहीं हैं ।।11/32।।

209– **तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व, जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।**
मयैवैते निहताः पूर्वमेव, निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥11/33॥

इसलिए तू उठ खड़ा हो, यश का लाभ ले ले, शत्रुओं को जीतकर समृद्धिपूर्ण राज्य का उपभोग कर। ये सब तो मेरे द्वारा ही मारे जा चुके हैं, हे सव्यसाची अर्जुन! तू केवल निमित्त रूप बन जा ।।11/33।।

210– **द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।**
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥11/34॥

द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा ऐसे ही अन्यान्य वीर योद्धा जो मेरे द्वारा पहले ही माल डाले गये हैं– उन मरों हुओं को तू मार डाल, घबड़ा मत, युद्ध कर, तू युद्ध में शत्रुओं को जीतेगा ।।11/34।।

[पिता-रूप भगवान्]

संजय उवाच

211– **एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।**
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य॥11/35॥

संजय ने कहा : केशव के ये वचन सुनकर काँपते हुए, भय से भीत हुए मुकुटधारी

अर्जुन ने हाथ जोड़ कर कृष्ण को नमस्कार किया और रूँधे हुए कण्ड से कृष्ण को इस प्रकार कहा ।।11/35।।

अर्जुन उवाच

**212– स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः।।11/36।।**

अर्जुन ने कहा : हे हृषीकेश! आपका कीर्तन करके जगत् को जो हर्ष होता है और आपके लिये जो अनुराग उत्पन्न होता है वह यथास्थान है, ठीक ही है। (आपके इस विश्व-रूप में एक तरफ़ तो) राक्षस भयभीत होकर सब दिशाओं में (जान बचाकर) भाग रहे हैं और (दूसरी तरफ़) सिद्धों का समूचा समुदाय आपको नमस्कार कर रहा है ।।11/36।।

**213– नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते, नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं, सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः।।11/40।।**

हे सर्व! आपको सामने से नमस्कार है, पीछे से नमस्कार है, सब तरफ़ से आपको नमस्कार है। आपकी शक्ति अनन्त है, आपका बल अपार है, आप सब जगह पहुँचे हुए हो, सब में व्याप्त हो इसलिये आप सर्व हो, सब-कुछ हो ।।11/40।।

**214– सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि।।11/41।।**

आपकी इस महिमा को न जानकर, आपको अपना सखा मानकर, 'हे कृष्ण', 'हे यादव', 'हे सखा'-इस प्रकार जो मैंने भूल से, या प्रेम से सम्बोधन किया है ।।11/41।।

**215– यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्।।11/42।।**

और कभी खेल में, शय्या पर लेटे हुए, बैठे हुए या कभी भोजन करते समय, अकेले में या सबके बीच में, हँसी-मजाक में मैंने जो आपके प्रति असत्कार किया हो, उसके लिये, हे अच्युत! मैं अप्रमेय, अनन्तरूप आप से क्षमा माँगता हूँ ।।11/42।।

**216– पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभयधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव।।11/43।।**

आप इस चर तथा अचर जगत् के पिता हैं, आप इस संसार के पूज्य और गुरु के भी गुरु हैं। जब आपके समान कोई नहीं है, तब आपसे अधिक तो कोई हो ही कैसे सकता है? तीनों लोकों में आपके सामर्थ्य का जोड़ नहीं है ।।11/43।।

**217– तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्।।11/44।।**

इसलिये प्रणाम करके, और अपनी काया को आपके सम्मुख साष्टांग झुकाकर, मैं आप आराधनीय प्रभु से प्रसन्न होने की प्रार्थना करता हूँ। हे देव! जिस प्रकार पिता अपने पुत्र के, मित्र अपने मित्र के व्यवहार को सहन करता है, वैसे आप मेरे प्रिय होने के कारण मेरे कल्याण के लिये (मेरे अब तक के व्यवहार को) सहन करेंगे ।।11/44।।

218– **अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।**
तदेव मे दर्शय देवरूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास॥11/45॥

पहले न देखा हुआ–'अदृष्ट–पूर्व'–आपका रूप देखकर मैं हर्ष से विभोर हूँ, साथ ही मेरा मन भय से व्याकुल भी हो गया है। इसलिये हे देव! मुझे वहीं––अपना पहले वाला–रूप दिखलाइये। हे देवताओं के देवता, हे जगत् के निवास, आप मुझ पर प्रसन्न हूजिये ॥11/45॥

219– **किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।**
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते॥11/46॥

मैं तुझे फिर पहले भी भाँति मुकुटधारी, गदाधारी, चक्रधारी देखना चाहता हूँ, हे सहस्त्रबाहु, हे विश्वमूर्ति! उसी अपने पहले चतुर्भुजवाले रूप से दर्शन दें ॥11/46॥

श्री भगवानुवाच

220– **मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।**
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्॥11/47॥

श्री भगवान् ने कहा : हे अर्जुन मैंने प्रसन्न होकर अपने योग–सामर्थ्य से अपना यह तेजोमय, विश्वव्यापी, अनन्त, परम, आदि रूप दिखाया है। मेरा रूप तेरे सिवाय पहले किसी ने नहीं देखा, यह 'न दृष्टपूर्व' है, 'अदृष्टपूर्व' है ॥11/47॥

221– **न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।**
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥11/48॥

हे कुरुवीर श्रेष्ठ! इस मानुष लोक में तेरे सिवाय अन्य किसी भी व्यक्ति से मैं इस रूप में नहीं देखा जा सका––न वेदों के अभ्यास द्वारा, न यज्ञों द्वारा, न शास्त्रों के अध्ययन द्वारा, न दान के द्वारा न कर्मकांड की क्रियाओं द्वारा, न उग्र तपों द्वारा ॥11/48॥

222– **मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।**
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य॥11/49॥

मेरे इस विकराल रूप को देखकर तू घबरा मत और किंकर्तव्य–विमूढ़ भी मत हो। भय को त्याग कर, प्रेम से मन को भरपूर करके तू फिर मेरे उसी रूप को देख ॥11/49॥

संजय उवाच

223– **इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।**
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा॥11/50॥

संजय ने कहा : वासुदेव ने अर्जुन से यह कहकर उसे फिर अपना रूप दिखाया। उस महात्मा ने फिर अपना सौम्य रूप धारण करके भयभीत अर्जुन को आश्वासन दिया ॥11/50॥

अर्जुन उवाच

224– **दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।**
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः॥11/51॥

अर्जुन ने कहा : हे जनार्दन! आपके इस सौम्य मानवीय रूप को देखकर अब मेरे होश-हवाश ठिकाने आ गये हैं और मैं अपनी स्वाभाविक मनोदशा में आ गया हूँ ।।11/51।।

श्री भगवानुवाच

225– **नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।**
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥11/53॥

श्री भगवान् ने कहा : तूने मेरे जिस रूप को देखा है उसके दर्शन कर पाना बहुत कठिन है। देवता भी इस रूप के दर्शन के लिये सदा तरसते रहते हैं ।।11/53।।

226– **भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।**
ज्ञातं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥11/54॥

परन्तु हे अर्जुन! हे परंतप (शत्रुओं को तपाने वाले)! केवल अनन्य-भक्ति से मेरे सम्बन्ध में ऐसा ज्ञान, मेरे ऐसे दर्शन संभव हैं, इस अनन्य-भक्ति से ही मुक्ति में प्रवेश पाना संभव है ।।11/54।।

द्वादशोऽध्यायः

श्री भगवानुवाच

227– **ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।**
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥12/6॥

श्री भगवान् ने कहा : जो लोग अपने सब कर्मों को मुझ में समर्पण करके, मत्परायण होकर--मुझ पर ही अपने को छोड़कर--अनन्य भक्ति से मेरा ध्यान करते हैं ।।12/6।।

228– **मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।**
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥12/8॥

तू अपना मन मुझ में रख दे, अपनी बुद्धि को मुझ में प्रविष्ट कर दे, इसके बाद तू मुझ में ही निवास करेगा--इसमें सन्देह नहीं हैं ।।12/8।।

[भगवान् के प्रिय भक्त का वर्णन]

229– **अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।**
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी॥12/13॥

230– **सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः।**
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥12/14॥

जो व्यक्ति किसी प्राणी से द्वेष नहीं करता, जो सबका मित्र है, सबके प्रति दया का व्यवहार करता है, जो ममता और अहंकार से रहित है, सुख-दुःख में समान है, क्षमावान् है; जो सदा सन्तोषी है, योगयुक्त है, अपने आप को वश में रखता है, जिसका निश्चय दृढ़ है, जिसने अपने मन और बुद्धि को मुझ में अर्पण कर दिया है- ऐसा मेरा भक्त मुझे प्यारा है ।।12/13-14।।

231- **यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।**
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः।।12/15।।

जिससे लोग उद्विग्न नहीं होते, जो लोगों से उद्वेग नहीं पाता, जो हर्ष, ईर्ष्या, भय इन उद्वेगों से मुक्त है वह मुझे प्यारा है ।।12/15।।

232- **अनपेक्षः शुचिदक्ष उदासीनो गतव्यथः।**
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः।।12/16।।

जो किसी से कोई आशा नहीं रखता, जो पवित्र है, कुशल है, तटस्थ है, व्यथारहित है, जिसने कर्म के फल के संबध में सब आरंभ अर्थात् उद्योग परे फेंक दिये हैं, ऐसा जो मेरा भक्त है वह मुझे प्यारा है ।।12/16।।

233- **यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।**
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः।।12/17।।

जो न हर्ष करता है, न द्वेष करता है, न दुःख मानता है, न आशाएँ बाँधता है, जिसने भले-बुरे दोनों का परित्याग कर दिया है--ऐसा भक्तिमान् व्यक्ति मुझे प्यारा है ।।12/17।।

234- **समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।**
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः।।12/18।।

जो शत्रु और मित्र के प्रति सम-दृष्टि से देखता है, मान-अपमान, शीत-उष्ण, सुख-दुःख में सम रहता है, आसक्ति से जो रहित है ।।12/18।।

235- **ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।**
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः।।12/20।।

जो ऊपर बतलाये इस अमृत-तुल्य धर्म का श्रद्धापूर्वक मुझ में परायण रहकर आचरण करते हैं वे मुझे अत्यन्त प्यारे हैं ।।12/20।।

त्रयोदशोऽध्यायः

[यह शरीर 'क्षेत्र' है, आत्मा 'क्षेत्रज्ञ है]

श्री भगवानुवाच

236- **इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।**
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।।13/1।।

हे कौन्तेय! यह शरीर 'क्षेत्र' कहलाता है, और जो व्यक्ति इस क्षेत्र को जानता है उसे

तत्वज्ञानी लोग 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं ।।13/1।।

237– **इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।**
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ।।13/8।।
इन्द्रियों के विषयों में वैराग्य, अहंकार-शून्यता, संसार में जन्म, मुत्यु, वृद्धावस्था, रोग और दुःख--इन दोषों को देखना ।।13/8।।

238– **समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।**
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति।।13/27।।
और इन नाशवान् वस्तुओं में जो अविनाशी तत्व परमेश्वर को देखता है, जो सम्पूर्ण जड़-चेतन में सम-भाव से विराजमान है, वहीं यथार्थ में देखता है ।।13/27।।

239– **समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।**
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्।।13/28।।
परमेश्वर को सर्वत्र सम-भाव से विराजमान देखने के कारण वह अपने हाथों अपना हनन नहीं करता और इसी से वह परम गति पा लेता है ।।13/28।।

240– **प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।**
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति।।13/29।।
जो व्यक्ति इस बात को देख लेता है कि सब कर्म सब प्रकार से केवल प्रकृति द्वारा किये जा रहे हैं, आत्मा तो अकर्ता है, वह कर्म करने वाला नहीं है, वही यथार्थ में देखता है ।।12/29।।

चतुर्दशोऽध्यायः

श्री भगवानुवाच

241– **सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।**
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत।।14/11।।
श्री भगवान् ने कहा : जब इस देह में इन्द्रियों के सब द्वारों में प्रकाश तथा ज्ञान का उदय हो जाता है तब यह समझ लेना चाहिये कि सत्त्वगुण बढ़ रहा है ।।14/11।।

242– **लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।**
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ।।14/12।।
हे भरत-कुल में श्रेष्ठ! जब रजोगुण की वृद्धि होती है तब लोभ, प्रवृत्ति कार्यों का प्रारंभ, अशान्ति और वस्तुओं की लालसा-ये सब उत्पन्न हो जाते हैं ।।14/12।।

243– **अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।**
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन।।14/13।।
हे कुरु-नन्दन! जब तमोगुण की वृद्धि होती है तब प्रकाश का अभाव, काम करने की इच्छा का आभाव, लापरवाही तथा मूढ़ता-ये उत्पन्न हो जाते हैं ।।14/13।।

[सत्त्व, रज, तम का फल]

244– **यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।**
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते॥14/14॥
जब देहधारी आत्मा उस अवस्था में मरे जब सत्त्वगुण उभरा हुआ हो तब वह उत्तम ज्ञानियों के निर्मल लोकों को प्राप्त करता है ॥14/14॥

245– **रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।**
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते॥14/15॥
जब देहधारी रजोगुण की अवस्था में मरे , तब कर्मों में आसक्त लोगों में जन्म लेता है, और तमोगुणी अवस्था में मर कर मूढ़ योनियों में जन्म लेता है ॥14/15॥

246– **कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।**
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्॥14/16॥
सुकृत कर्म का फल सात्विक और निर्मल होता है; राजस कर्म का फल दुःख होता है; तामस कर्म का फल अज्ञान होता है ॥14/16॥

247– **सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।**
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥14/17॥
सत्त्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है, रजोगुण से लोभ उत्पन्न होता है, तमोगुण से असावधानी, मूढ़ता और अज्ञान उत्पन्न होता है ॥14/17॥

248– **ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।**
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥14/18॥
जो लोग सत्त्वगुण में स्थिर होते हैं वे ऊपर की ओर उठते हैं, रजोगुण वाले लोग मध्य में रहते हैं और तमोगुणी लोग जघन्य गुणों और जघन्य वृत्ति में पड़े हुए अधोगति को जाते हैं ॥14/18॥

249– **समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।**
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥14/24॥
जो सुख-दुःख को समान समझता है, जो अपने में 'स्वस्थ' अर्थात् अपने में स्थिर रहता है, मग्न रहता है, जो मिट्टी के ढेले, पत्थर और सोने को समान समझता है, जो प्रिय या अप्रिय वस्तु प्राप्त होने पर एक समान रहता है, जो धीर है, जो निन्दा और स्तुति को एक-समान समझता है ॥14/24॥

250– **मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।**
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥14/25॥
जो मान और अपमान में एक-समान रहता है, जो मित्र-पक्ष और शत्रु-पक्ष में समान भाव रखता है, जिसने समस्त कर्मों का आरंभ त्याग दिया है, वह गुणातीत कहलाता है ॥14/25॥

पञ्चदशोऽध्यायः

[संसार-वृक्ष का 'अश्वत्थ' के रूप में आध्यात्मिक वर्णन]

श्री भगवानुवाच

251– **ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।**
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥15/1॥

श्री भगवान् ने कहा : (सृष्टि के तत्व की गहराई को जानने वाले) बतलाते हैं कि एक 'अश्वत्थ' वृक्ष है, पीपल का पेड़ है। इसकी जड़े ऊपर की ओर हैं, शाखाएँ नीचे की ओर हैं। यह पेड़ सनातन काल से चला आ रहा है–'अव्यय' है। इस पेड़ के पत्ते वेदों के छन्द हैं। इस वृक्ष को जिसने जान लिया वह पुरुष सच्चा वेद-वेत्ता है ॥15/1॥

252– **निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।**
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसञ्ज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥15/5॥

जो लोग अभिमान और मोह से मुक्त हो गये हैं, जिन्होंने आसक्ति के दोष को जीत लिया है, जो दिन-रात आत्मा में निमग्न हैं, जिनकी सब कामनाएँ शान्त हो गई हैं, जो सुख-दुःख नाम के द्वन्दों से मुक्त हो गये हैं, वे उसे 'अक्षय'--अविनाशी पद को प्राप्त करते हैं ॥15/5॥

253– **न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।**
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥15/6॥

वह 'अव्यय' पद मेरा परम-धाम है। वहाँ पहुँच कर लौट कर नहीं आते। (वहाँ पर ब्रह्म के कारण स्वतः इतना प्रकाश है कि) न वहाँ सूर्य को प्रकाश देना पड़ता, न चन्द्र को, न अग्नि को। (ये तो स्वयं उसकी ज्योति से प्रकाशित होते हैं।) ॥15/6॥

[जीव का वर्णन]

254– **ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।**
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥15/7॥

मेरा ही एक अंश–'ममैवांशः', इस जीवन के संसार में--'जीवलोके', जीव बनकर--'जीवभूतः', सनातन काल से--'सनातनः' (मौजूद है)। (यह मेरा अंश 'जीव') प्रकृति में रहने वाली पाँचों इन्द्रियों और मन--इन छः को अपनी ओर खींच लेता है (और यह जन्म हो जाता है) ॥15/7॥

255– **अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।**
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥15/14॥

मैं प्राणियों के देह में जाकर, प्राण तथा अपान से युक्त वैश्वानर अग्नि बनकर चार प्रकार के अन्न का पाचन करता हूँ ॥15/14॥

256– द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥15/16॥
इस संसार में दो पुरुष हैं–एक 'क्षर' है, नश्वर है, दूसरा 'अक्षर' है, अविनश्वर है। सब भूतों को 'क्षर' कहते हैं, कूटस्थ को 'अक्षर' कहते हैं ।।15/16।।

षोडशोऽध्यायः

[दैवी-प्रकृति, के लोग]

श्री भगवानुवाच

257– अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥16/1॥
श्री भगवान् ने कहा : हे भारत! निर्भयता, अन्तःकरण की शुद्धि, ज्ञान और योग में निष्ठा, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता ।।16/1।।

258– अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥16/2॥
अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, दूसरों के दोष न ढूँढ़ना, प्राणियों पर दया, लोभ न होना, स्वभाव में मृदुता (कोमलता), लज्जाशीलता ।।16/2।।

259– तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥16/3॥
तेज, क्षमा, धैर्य, पवित्रता, द्वेष न होना, अत्यन्त अभिमान न होना–ये उस व्यक्ति के गुण हैं जो 'दैवी–संपद्' लेकर जन्म लेता है ।।16/3।।

[आसुरी प्रकृति के लोग]

260– दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्॥16/4॥
हे पार्थ! दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य, अज्ञान–ये उस व्यक्ति के दुर्गुण हैं जो 'आसुरी–संपद्' लेकर जन्म लेता है ।।16/4।।

[आसुरी प्रकृति वालों के लिए नरक में तीन द्वार]

261– त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥16/21॥
(आसुरी–प्रकृति के द्वारा) आत्मा को विनाश की ओर ले जाने वाले तीन प्रकार के दरवाजे हैं। वे हैं : काम, क्रोध और लोभ। इसलिये मनुष्य को इन तीनों का त्याग करना चाहिये ।।16/21।।

[कर्तव्य-कर्म के लिये शास्त्र की प्रामाणिकता]

262– **यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।**
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥16/23॥
जो व्यक्ति शास्त्र के विधान को छोड़कर मनमाना आचरण करने लगता है, उसे न सिद्धि--सफलता--मिलती है, न सुख मिलता है, न उत्तम गति ही मिलती है ॥16/23॥

263– **तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।**
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥16/24॥
इसलिये क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये--इस बात की व्यवस्था के लिये तू शास्त्र को ही प्रमाण समझ। शास्त्र में जो विधान बतलाया गया है, जो नियम बतलाये गये हैं, उन्हें जानकर तुझे इस संसार में अपना काम करते जाना चाहिये ॥16/24॥

सप्तदशोऽध्यायः

[विविध-श्रद्धा]

श्री भगवानुवाच

264– **त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।**
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥17/2॥
श्री भगवान् ने कहा : प्राणिमात्र की इच्छा तीन प्रकार की होती है। श्रद्धा के ये तीन प्रकार उनके स्वभाव से उत्पन्न होते हैं। (सात्विक-स्वभाव वालों की) सात्विकी-श्रद्धा, (राजसिक-स्वभाव वालों की) राजसिकी-श्रद्धा, और (तामसिक-स्वभाव वालों की) तामसिकी-श्रद्धा होती है। अब इन (तीनों) के विषय में सुन ॥17/2॥

265– **सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।**
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥17/3॥
हे भारत! सब लोगों की श्रद्धा अपने स्वभाव के अनुसार होती है। मनुष्य स्वभाव से ही श्रद्धामय है। जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वह वैसा ही होता है ॥17/3॥

266– **यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।**
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥17/4॥
सात्विक स्वभाव वाले व्यक्ति देवताओं की (श्रद्धापूर्वक) पूजा करते हैं, राजसिक स्वभाव वाले यक्षों और राक्षसों की (श्रद्धापूर्वक) पूजा करते हैं, तामसिक स्वभाव वाले भूतों-प्रेतों की (श्रद्धापूर्वक) पूजा करते हैं ॥17/4॥

267– **अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।**
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥17/5॥
(कई लोग श्रद्धा में निरे मूर्ख होते हैं। वे समझते हैं कि अपने शरीर को कष्ट देने से भगवान् मिल जाते हैं। ऐसे अन्ध-श्रद्धा वाले) दंभ और अहंकार से युक्त होकर काम और आसक्ति के बल पर उग्र तपों को करते हैं जिन (तपों का शास्त्रों में कहीं भी विधान नहीं है ॥17/5॥

268– **कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।**
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥17/6॥
ये अपनी मूर्खता के कारण अपने शरीर में विद्यमान पंच महाभूतों के समूह को (व्यर्थ) में कष्ट देते हैं, और शरीर के भीतर निवास करने वाले मुझ को भी कष्ट देते हैं। इन लोगों को तू आसुरी-बुद्धि वाला समझ ।।17/6।।

269– **आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।**
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु॥17/7॥
आहार भी सब को तीन ही प्रकार का प्रिय होता है। यही हाल यज्ञ, तप और दान का है। इनके भेद को सुन ।।17/7।।

[त्रिविध आहार]

270– **आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।**
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥17/8॥
जो भोजन आयु, सात्त्विक-वृत्ति, बल, आरोग्य सुख और उल्लास को बढ़ाते हैं, जो रसीले, स्निग्ध, शरीर को स्थिर बनाने वाले, रुचिकर होते हैं, वे सात्त्विक-वृत्ति वालों को प्रिय होते हैं ।।17/8।।

271– **कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।**
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥17/9॥
जो भोजन कटु अर्थात् चटपटे, खट्टे, नमकीन, बहुत गर्म, तीखे, रूखे और जलन उत्पन्न करने वाले होते हैं, जो दुःख, शोक और रोग को उत्पन्न करते हैं, वे राजसिक-वृत्ति वालों को प्रिय होते हैं ।।17/9।।

272– **यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।**
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥17/10॥
जो भोजन देर का पड़ा हुआ हो, नीरस हो, सड़ गया हो, बासी हो, जूठा हो, गंदा हो, ऐसे भोजन तामस-वृत्ति वालों को प्रिय होते हैं ।।17/10।।

273– **विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।**
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥17/13॥
जो यज्ञ विधिहीन है, जिसमें अन्नदान नहीं किया जाता, जिसमें मन्त्र-पाठ नहीं होता, दक्षिणा नहीं दी जाती, वह तामस-यज्ञ कहलाता है ।।17/13।।

[त्रिविध तप]

274– **देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।**
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥17/14॥
देवताओं, ब्राह्मणों, गुरुओं और विद्वानों की पूजा करना, पवित्रता, सरलता ब्रह्मचर्य और अहिंसापूर्वक जीवन बिताना--यह सब शरीर का तप कहलाता है ।।17/14।।

275– **अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।**
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥17/15॥
ऐसे वाक्य बोलना जिनसे दूसरे लोग उद्विग्न न हो जायें, जो सत्य होने के साथ-साथ प्रिय हों, हितकारी हों; वाङ्मय का स्वाध्याय करना और स्वाध्याय किये हुए का अभ्यास रखना--यह वाणी का तप कहलाता है ॥17/15॥

276– **मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।**
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥17/16॥
मन को प्रसन्न रखना, सौम्यता, मौन, आत्म-संयम और चित्त की शुद्ध भावना--यह सब मन का तप कहलाता है ॥17/16॥

277– **श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।**
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥17/17॥
इन तीनों प्रकार के तपों को यदि मनुष्य फल की आकांक्षा छोड़कर लगन और परम श्रद्धा के साथ करे तो (कायिक, वाचिक, तथा मानसिक तप) सात्त्विक कहलाते हैं ॥17/17॥

278– **मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।**
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥17/19॥
जो (कायिक, वाचिक तथा मानसिक) तप मूर्खतापूर्ण दुराग्रह के साथ अपने-आपको कष्ट देकर या दूसरों को हानि पहुँचाने के लिए किये जाते हैं, वे तामसिक कहलाते हैं ॥17/19॥

[त्रिविध दान]

279– **दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।**
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥17/20॥
जो दान, 'देना उचित है'--ऐसा समझकर अपने ऊपर प्रत्युपकार न करने वाले को, देश, काल तथा पात्र का विचार करके दिया जाता है। उस दान को सात्त्विक-दान माना गया है ॥17/20॥

280– **यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।**
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥17/21॥
परन्तु जो दान किसी उपकार के बदले में प्रत्युपकार की आशा से या भविष्य में किसी लाभ की आशा में दिया जाता है, या जिसे देते हुए दानदाता क्लेश अनुभव करता है, उस दान को राजसिक-दान माना गया है ॥17/21॥

281– **अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।**
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥17/22॥
जो दान देश, काल तथा पात्र का विचार किये बिना, बिना उचित सत्कार के, अथवा तिरस्कार पूर्वक दिया जाता है, वह दान तामस-दान कहा गया है ॥17/22॥

282– **ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।**
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥17/23॥
'ओं+तत्+सत्'--यह ब्रह्म का तीन प्रकार का निर्देश अर्थात् संकेत माना जाता है। प्राचीन काल में ब्रह्म से ही ब्राह्मण ग्रन्थ, वेद तथा यज्ञ निर्मित हुए ॥17/23॥

[त्रिविध मंत्र--ओं तत् सत्]

283– **तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।**
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥17/24॥
इसलिए ब्रह्मवादी लोगों की शास्त्रों के विधान द्वारा बतलाई गई यज्ञ, दान तप रूपी क्रियाएँ सदा 'ओं' का उच्चारण करके प्रारंभ की जाती हैं ॥17/24॥

284– **अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।**
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥17/28॥
अश्रद्धा से जो यज्ञ किया जाता है, जो दान दिया जाता है, जो तप किया जाता है, हे पार्थ! वह 'असत्' कहा जाता है ॥17/28॥

अष्टादशोऽध्यायः

[संन्यास तथा त्याग के लक्षण]

श्री भगवानुवाच

285– **त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।**
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे॥18/3॥
श्री भगवान् ने कहा : कुछ मनीषियों का कथन है कि 'कर्म' सदा दोषयुक्त होता है, (यह दोष रहित हो ही नहीं सकता इसलिये) इसका 'त्याग' कर देना चाहिये; दूसरे लोग कहते हैं कि 'यज्ञ', 'दान', 'तप' और 'कर्म' का कभी त्याग नहीं करना चाहिये ॥18/3॥

286– **यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।**
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥18/5॥
'यज्ञ'-'दान'-'तप'-'कर्म'--त्याज्य नहीं है, इन्हें तो करना ही चाहिये। 'यज्ञ'-'दान'-'तप' तो विद्वान को (भी) पवित्र कर देते हैं ॥18/5॥

287– **कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।**
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥18/9॥
हे अर्जुन! जो व्यक्ति 'नियत' कर्म को अपना कर्तव्य समझ कर, (भले ही किसी प्रकार का कष्ट ही क्यों न हो) यह तो करना ही है, ऐसा समझ कर करता है, और उस कर्म के प्रति आसक्ति तथा फलाशा दोनों को छोड़कर कर्म करता है, उसका त्याग 'सात्त्विक-त्याग' माना जाता है ॥18/9॥

288– **न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।**

यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥18/11॥

किसी भी देहधारी के लिए कर्मों का पूर्ण त्याग संभव नहीं है, परन्तु जो कर्म के फल को त्याग देता है, वही त्यागी कहलाता है। (सिर्फ़ भगवा पहन कर सब काम छोड़ देना और अपने को संन्यासी कहते फिरना त्यागी का लक्षण नहीं है) ॥18/11॥

289– **ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।**
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसङ्ग्रहः॥18/18॥

कर्म की प्रेरणा देने वाले त्रिक हैं--'ज्ञाता' (Knower) 'ज्ञेय' (Known) तथा 'ज्ञान' (Knowledge)। (जब ज्ञान से कर्म होने लगता है तब) कर्म के अंग हैं-- 'कर्ता' (Actor) 'कर्म' (Action) तथा 'करण' (Instrument)। ('ज्ञाता'–'ज्ञेय'–'ज्ञान' के त्रिक को वेदान्तशास्त्र में 'त्रिपुटी' कहा जाता है।) ॥18/18॥

290– **ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।**
प्रोच्यते गुणसङ्ख्याने यथावच्छृणु तान्यपि॥18/19॥

(इन छहों में 'ज्ञान'–'कर्म'–'कर्ता'--ये तीन ही मुख्य हैं) सांख्यशास्त्र में गुणों के भेद के कारण 'ज्ञान'–'कर्म'–'कर्ता'--इन तीनों के तीन-तीन प्रकार के विविध भेद कहे गये हैं। इन भेदों को तू भली प्रकार सुन ॥18/19॥

[त्रिविध ज्ञान]

291– **सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।**
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥18/20॥

जिस ज्ञान के द्वारा (मनुष्य) सब भूतों में--जड़-चेतन में-- एक ही अविनाशी सत्ता को देखता है, (जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य) विभक्तों में अविभक्त को देखता है, उस ज्ञान को तू सात्त्विक-ज्ञान समझ ॥18/20॥

[त्रिविध कर्ता]

292– **मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।**
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते॥18/26॥

('ज्ञान' के बिना 'कर्म' नहीं होता, 'कर्ता' के बिना भी 'कर्म' नहीं होता, इसलिए 'कर्ता' का त्रिविध क्या है?) जो कर्ता आसक्ति से मुक्त है जो अहंकार की बातें नहीं करता, जो धैर्य और उत्साह से युक्त है, जो सफलता एवं विफलता में निर्विकार रहता है, वह कर्ता सात्त्विक कहलाता है ॥18/26॥

293– **रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।**
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः॥18/27॥

जो कर्ता राग से, आसक्ति से प्रेरित है, जो अपने कर्मों का फल पाने के लिए उत्सुक रहता है, जो लोभी है, जिसका स्वभाव हिंसा करने का है, जो अपवित्र है, जो हर्ष और शोक से लिपायमान है, वह कर्ता राजसिक कहलाता है ॥18/27॥

294– **अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठोऽनैष्कृतिकोऽलसः।**
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते॥18/28॥

जो कर्ता 'अयुक्त' है-- कहीं चित्त नहीं टिका सकता; 'प्राकृत' है-- प्रकृति से जैसा आया था वैसे-का वैसा बना है, अशिक्षित है, असंस्कृत है; 'स्तब्ध' है--हठी है; 'शठ' है--धोखेबाज़ है; 'नैष्कृतिक' है-- निस्+कृत्=काटना, छेद करना--दूसरों के काम में छेद करता रहता है; 'अलस' है--आलसी है; 'विषादी' है--हर काम को या तो टालता जाता है या हर काम में देर लगा देता है, वह कर्ता तामस कहलाता है ॥18/28॥

295– **अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।**
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥18/32॥

हे पार्थ! जिस बुद्धि के द्वारा अन्धकार के आवरण से घिरा हुआ मनुष्य अधर्म को धर्म समझने लगता है, और सब बातों को उल्टा देखने लगता है, वह बुद्धि तामसी होती है ॥18/32॥

[त्रिविध सुख]

296– **यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।**
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥18/37॥

जो सुख प्रारम्भ में विष जैसा प्रतीत होता है, अन्त में अमृत के समान होता है, जो आत्मनिष्ठ बुद्धि के प्रसाद से प्राप्त होता है, वह सात्त्विक सुख है ॥18/37॥

297– **विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।**
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥18/38॥

जो सुख विषय तथा इन्द्रियों के संयोग से उत्पन्न होता है, जो शुरू में अमृत के समान परन्तु परिणाम में विष के समान होता है, वह सुख राजसिक है ॥18/38॥

298– **यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।**
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्॥18/39॥

जो सुख प्रारम्भ और अन्त में आत्मा को मोह में फँसाये रखता है, जो सुख निद्रा, आलस्य तथा प्रमाद से उत्पन्न होता है, वह सुख तामसिक है ॥18/39॥

[स्वभावज कर्म]

299– **शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।**
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥18/42॥

शान्त-स्वभाव, आत्म-संयम, तपस्या, पवित्रता, सहन-शक्ति, सरलता, ज्ञान, अनुभव, आस्तिकता--ये ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं ॥18/42॥

300– **शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।**
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥18/43॥

वीरता, तेज, धीरता, चतुरता, युद्ध में पीठ न दिखाना, दानशीलता और हुकूमत करना--ये क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं ।।18/43।।

301– **कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।**
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥18/44॥

कृषि, गो-रक्षा, व्यापार--ये वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं; शूद्र का स्वाभाविक कर्म सेवा करना है ।।18/44।।

302– **स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।**
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥18/45॥

अपने-अपने कर्म में जो व्यक्ति (अपने स्वभाव के अनुसार) लगा रहता है, वह सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। अपने कर्म में ही लगे रहने से मनुष्य सिद्धि को जैसे प्राप्त कर लेता है--वह सुन ।।18/45।।

303– **यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।**
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥18/46॥

जिससे सब प्राणी जन्म लेते हैं, जिससे यह सारा जगत् व्याप्त है, उस परमात्मा की, अपने कर्म से पूजा करके मनुष्य सिद्धि को प्राप्त कर लेता है ।।18/46।।

304– **श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।**
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥18/47॥

अपना धर्म--'स्व-धर्म'--यदि ठीक तरह पालन न किया जा सके, और दूसरे का धर्म--'पर-धर्म' का पालन करना अधिक अच्छा है। स्वभाव के अनुसार 'नियत' कर्म को करने वाले व्यक्ति को पाप नहीं लगता ।।18/47।।

305– **सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।**
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥18/48॥

हे कौन्तेय! मनुष्य को अपने सहज स्वभाव के अनुसार जो कार्य हो उसे छोड़ना नहीं चाहिये चाहे उसमें दोष भी क्यों न हो क्योंकि जैसे आग धूएँ से ढकी रहती है वैसे सब कर्म किसी-न-किसी दोष से ढके रहते हैं ।।18/48।।

306– **विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।**
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥18/52॥

एकान्त स्थान का सेवन करने वाला, अल्प आहार करने वाला, वाणी-शरीर-मन को वश में रखने वाला, सदा ध्यान तथा एकाग्रता में तत्पर, वैराग्य की शरण लिये हुए ।।18/52।।

307– **अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।**
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥18/53॥

अहंकार, बल दर्प, काम, क्रोध और धन-सम्पत्ति को छोड़कर, ममता से रहित होकर जो शान्त स्वभाव का हो जाता है, वह--'ब्रह्मभूय'--अर्थात् ब्रह्म के साथ एकाकार होने के योग्य--हो जाता है ।।18/53।।

308– **ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।**
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥18/54॥
'ब्रह्मभूत'––अर्थात् ब्रह्म के साथ एकाकार होने पर साधक 'प्रसन्नात्मा' हो जाता है, न उसे कोई शोक होता है, न उसे कोई इच्छा रहती है। ऐसा व्यक्ति सब प्राणियों को सम–दृष्टि से देखने लगता है और मेरी परम भक्ति को प्राप्त कर लेता है ।।18/54।।

309– **भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।**
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥18/55॥
(वह) भक्ति के द्वारा इस बात को जान लेता है कि मैं तात्त्विक रूप मे कितना हूँ, और कौन हूँ। उसके अनन्तर मुझे तत्त्व रूप में जान लेने पर वह मुझमें प्रवेश पा जाता है ।।8/55।।

[ईश्वर की शरण का गुह्य उपदेश]

310– **ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।**
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥18/61॥
हे अर्जुन! ईश्वर सब प्राणियों के हृदय–प्रवेश में बैठा हुआ है और वह (वहाँ से) उनको इस प्रकार घुमा रहा है मानों वे किसी यन्त्र पर चढ़े हुए हों ।।18/61।।

311– **तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।**
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥18/62॥
हे भारत! तू 'सर्वभाव' से, अपने संपूर्ण अस्तित्व को समेटकर उसी की शरण में जा। उसकी कृपा से तुझे परम शान्ति और शाश्वत भाव प्राप्त होगा ।।18/62।।

312– **मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।**
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥18/65॥
अपने को मुझमें लगा, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन कर, मुझे नमस्कार कर, ऐसा करने से तू मुझ तक पहुँच जायेगा। क्योंकि तू मेरा प्रिय है इसलिए मैं तुझे सचमुच इस बात का वचन देता हूँ ।।18/65।।

313– **सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।**
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥18/66॥
सब धर्मों को छोड़कर तू केवल मेरी शरण में आ जा। तू दुःखी मत हो, मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूँगा ।।18/66।।

314– **श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।**
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्॥18/71॥
और जो व्यक्ति, श्रद्धा से युक्त होकर, ईर्ष्या से रहित होकर इस संवाद को सुनेगा, वह भी मुक्त होकर पुण्य कर्म वाले लोग जहाँ बसते हैं, उन शुभ लोकों को पावेगा ।।18/71।।

[उपसंहार]

अर्जुन उवाच

315– **नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्ध्वा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।**
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥18/73॥

अर्जुन ने कहा : हे अच्युत! तेरी कृपा से मेरा 'मोह' नष्ट हो गया, मुझे (स्व-धर्म की) स्मृति फिर प्राप्त हो गई है। अब मेरे संदेह दूर हो गये हैं, मैं स्थिर-चित्त हो गया हूँ, तेरे कहे के अनुसार कर्म करूँगा ॥18/73॥

संजय उवाच

316– **यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।**
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥18/78॥

संजय ने कहा : जहाँ योगेश्वर कृष्ण है और जहाँ धनुर्धारी अर्जुन है, वहीं श्री होगी, वहीं विजय होगी, वहीं विभूति होगी, वहीं अचल नैतिकता होगी--यही मेरी निश्चित धारणा है ॥18/78॥

नीति श्लोक संग्रह

- चाणक्य नीतिः
- विदुर नीतिः
- भृर्तहरि शतकम्

सम्पादकीय

नीति-शास्त्र का ही दूसरा नाम धर्म-शास्त्र है। वैदिक विचारधारा के अनुसार 'धर्म' शब्द प्रधान रूप से कर्त्तव्य का बोधक है। अतः धर्म-शास्त्र और कर्त्तव्य-शास्त्र दोनों परस्पर पर्याय हैं। धर्म-शास्त्र में उन सब विषयों का संविधान किया गया है, जिनकी पूर्ति करना मानव मात्र का जन्म से लेकर मृत्य पर्यन्त कर्त्तव्य होता है।

क्रान्तद्रष्टा, विचारक, प्रबुद्ध राजनीतिज्ञ आचार्य चाणक्य विश्व इतिहास में एक विलक्षण विभूति के रूप में प्रतिष्ठित हैं। आचार्य चाणक्य भारतीय ऋषि परम्परा के महान् गौरव पुरुष थे। पाप, अधर्म, अन्याय व शोषण को मिटाकर सत्य, धर्म व न्याय की स्थापना के लिए आदर्श जीवन, आदर्श परिवार, आदर्श समाज व आदर्श शासन व्यवस्था के उन्होंने जो सूत्र दिए हैं, गागर में सागर समेटे सफलता के इन सूत्रों की महत्ता को समझते हुए प्रस्तुत पुस्तक का प्रारूप इस तरह तैयार किया गया है, जिससे अधिकाधिक पाठकगण इन पर अमल करके अपने व्यक्तित्व का बहुआयामी विकास कर सकें। इसमें संदेह नहीं कि अपनी तरह के एकमात्र और अद्‌भुत् व्यक्तित्व के स्वामी महापण्डित चाणक्य की नीतियों और उनके द्वारा दी गई शिक्षाओं को अपनाकर कोई भी व्यक्ति असाधारण उपलब्धियाँ हासिल कर सकता है। क्योंकि—

अनन्तशास्त्रं बहुलाश्च विद्याः अल्पश्च कालो बहुविघ्नता च।
यत्सारभूतं तदुपासनीयं हंसो यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात्॥

शास्त्र अत्यंत विशाल और अनन्त है, विद्याएँ भी बहुत-सी हैं, मनुष्य की आयु कम है और उसके मार्ग में मुश्किलें भी बहुत हैं, इसलिए बुद्धिमान् व्यक्ति को शास्त्रों में से सारभूत तत्त्व को उसी प्रकार ग्रहण कर लेना चाहिए, जिस प्रकार हंस दूध को ग्रहण करके पानी को छोड़ देता है।

चाणक्य के अनुसार अनन्त ज्ञान सागर के अनमोल मोती जितने हो सकें उतने चुन लेने चाहिये।

इसी प्रकार विदुर भी अपने समय के उच्चकोटि के विद्वान् एवं पूर्ण धर्मात्मा पुरुष थे। ऐसे आप्तपुरुषों के वचन एवं जीवन के निष्कर्षों से हमें जीवन में सही निर्णय तक पहुँचने में सहायता मिलती है। महात्मा विदुर का धृतराष्ट्र को किया गया प्रवचन अपने ही ढंग का निराला है। इसमें सामाजिक व राजनैतिक मूल एवं गहन तत्वों के साथ-साथ मानव के चरित्रोत्थापक नैतिक उपदेशों का भी वर्णन किया गया है। महर्षि दयानन्द ने भी पठनीय ग्रन्थों के उल्लेख में "महाभारत" ग्रन्थ के अन्तर्गत विदुर नीति के पठन-पाठन का विशेष विधान किया है।

भारत स्वाभिमान आन्दोलन के माध्यम से सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक परिवर्तन में लगे सभी सात्विक कार्यकर्त्ताओं को हर कदम पर कोई न कोई बड़ा निर्णय लेना पड़ता है, हमारी नीयत, निर्णय एवं नीति सही होंगे तो निश्चत ही हमें हमारा लक्ष्य मिलेगा। "नीति श्लोक संग्रह" इसी दिशा में एक मूलभूत एवं महत्वपूर्ण प्रयास है। हमें पूरा विश्वास है कि संगठन एवं आन्दोलन से जुड़े सभी भाई-बहन इन नीति श्लोकों को स्मरण करके इनके अनुसार आचरण करेंगे व सही समय पर सही निर्णय लेकर आत्मनिर्माण व राष्ट्रनिर्माण के लक्ष्य को पूरा करने में समर्थ होंगे।

आचार्य बालकृष्ण

(आचार्य बालकृष्ण)

चाणक्य नीतिः

[हिन्दी व्याख्या सहित]

1. **प्रणम्य शिरसा विष्णुं त्रैलोक्याधिपतिं प्रभुम्।**
नानाशास्त्रोद्धृतं वक्ष्ये राजनीतिसमुच्चयम्॥

मैं त्रिलोक के स्वामी सर्वशक्तिमान सर्वव्यापक भगवान् को सिर झुकाकर प्रणाम करता हूँ। प्रभु को प्रणाम करने के पश्चात् मैं अनेक शास्त्रों से एकत्रित किए गए अमूल्य राजनीतिक ज्ञान का वर्णन करूँगा।

राजनीति और लोककल्याण से सम्बन्धित इस ग्रन्थ की रचना करने से पूर्व आचार्य चाणक्य इस श्लोक में सर्वव्यापी भगवान् के रूप को प्रणाम करते हैं।

2. **अनन्तशास्त्रं बहुलाश्च विद्या अल्पश्च कालो बहुविघ्नता च।**
यत्सारभूतं तदुपासनीयं हंसो यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात्॥

शास्त्र अत्यन्त विशाल और अनन्त हैं, विद्याएँ भी बहुत-सी हैं, मनुष्य की आयु बहुत कम है और उसके मार्ग में मुश्किलें भी बहुत हैं, इसलिए बुद्धिमान व्यक्ति को शास्त्रों में से सारभूत तत्व को उसी प्रकार ग्रहण कर लेना चाहिए, जिस प्रकार हंस दूध ग्रहण करके पानी को छोड़ देता है।

चाणक्य के अनुसार ज्ञान अनन्त है। अतः आलस्य आदि को छोड़कर जितना हमारे लिये उपयोगी है, उसे शीघ्र प्राप्त करना चाहिये।

3. **आतुरे व्यसने प्राप्ते दुर्भिक्षे शत्रु-संकटे।**
राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः॥

बीमार होने पर, दुःख के समय, अकाल पड़ने पर, शत्रु की ओर से संकट आने पर, राजदरबार में तथा किसी परिजन की मृत्यु के समय आदि में जो व्यक्ति साथ नहीं छोड़ता, वास्तव में वही सच्चा मित्र होता है।

आचार्य कहते हैं कि व्यक्ति का सच्चा मित्र या बंधु वही होता है, जो दैहिक, दैविक या भौतिक किसी भी प्रकार की विपत्ति के समय उसका साथ नहीं छोड़ता।

4. **मनसा चिन्तितं कार्यं वाचा नैव प्रकाशयेत्।**
मन्त्रेण रक्षयेद् गूढं कार्ये चाऽपि नियोजयेत्॥

मन से सोचे हुए कार्य को कभी किसी से नहीं कहना चाहिए, परन्तु मननपूर्वक उसकी रक्षा करनी चाहिए और मौन रहते हुए उस बात को कार्यरूप में बदलना चाहिए।

चाणक्य का मानना है कि व्यक्ति को कभी अपने मन का भेद कार्य पूर्ण होने तक नहीं खोलना चाहिए। उसे जो भी कार्य करना है, उसे अपने मन में रखे और पूरी तन्मयता के साथ समय आने पर उसे पूरा करना चाहिए पर माता-पिता, गुरुजन आदि से कुछ भी नहीं छुपाना चाहिये अपितु उनसे सलाह लेनी चाहिये।

5. **परोक्षे कार्यहन्तारं प्रत्यक्षे प्रियवादिनम्।**
वर्जयेत्तादृशं मित्रं विषकुम्भं पयोमुखम्॥

जो मित्र छिपकर आपके कार्य को बिगाड़े और सामने आने पर मीठी-मीठी बातें करे, ऐसे मित्र को उस घड़े के समान त्याग देना चाहिए, जिसके मुँह पर तो दूध लगा हो परन्तु अन्दर विष भरा हुआ हो।

जो मित्र, आपके सामने चिकनी-चुपड़ी बातें करता हो और पीठ पीछे आपके कार्य को बिगाड़ देता हो, उसे त्याग देने में ही भलाई है। चाणक्य कहते हैं कि वह उस बर्तन के समान है, जिसके ऊपर के हिस्से में दूध लगा है, परन्तु अन्दर विष भरा हुआ होता है।

6. शैले शैले न माणिक्यं मौक्तिकं न गजे गजे।
साधवो न हि सर्वत्र चन्दनं न वने वने॥

सभी पहाड़ों पर मणियाँ नहीं मिलतीं, प्रत्येक हाथी के मस्तक में मोती उत्पन्न नहीं होते हैं। इसी प्रकार सज्जन पुरुष सब स्थानों पर नहीं मिलते और सभी जंगलों में चंदन भी उत्पन्न नहीं होता।

जिस प्रकार सभी पर्वतों पर माणिक्य प्राप्त नहीं हो सकता, बहुमूल्य मोती सभी हाथियों के मस्तक में नहीं मिलता और सभी वनों में चंदन के वृक्ष नहीं मिलते, उसी प्रकार सज्जन व्यक्ति भी सभी स्थानों पर नहीं मिलते अर्थात् श्रेष्ठ वस्तुएँ कठिनता से प्राप्त होती हैं।

7. माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा॥

वे माता-पिता अपने बच्चों के लिए शत्रु के समान हैं, जिन्होंने बच्चों को अच्छी शिक्षा नहीं दी। क्योंकि अनपढ़ बालक का विद्वानों के समूह में उसी प्रकार अपमान होता है, जैसे हंसों के झुण्ड में बगुले की स्थिति होती है।

शिक्षाविहीन मनुष्य बिना पूँछ के जानवर जैसा होता है, इसलिए माता-पिता का कर्त्तव्य है कि वे बच्चों को ऐसी शिक्षा दें, जिससे वे समाज को सुशोभित करें।

8. दुर्जनस्य च सर्पस्य च वरं सर्पो न दुर्जनः।
सर्पो दंशति कालेन दुर्जनस्तु पदे पदे॥

दुष्ट व्यक्ति और सांप में से किसी एक को चुनना हो तो सांप को चुनना उचित रहेगा, क्योंकि सांप समय आने पर ही काटेगा, जबकि दुर्जन व्यक्ति हर समय हानि पहुँचाता रहेगा।

चाणक्य ने कहा है कि दुष्ट व्यक्ति सांप से भी अधिक खतरनाक होता है। सांप तो आत्मरक्षा के लिए ही आक्रमण करता है, परन्तु दुष्ट व्यक्ति सदैव किसी न किसी प्रकार का कष्ट पहुँचाता ही रहता है।

9. एतदर्थं कुलीनानां नृपाः कुर्वन्ति संग्रहम्।
आदिमध्याऽवसानेषु न त्यजन्ति च ते नृपम्॥

राजा लोग अच्छे खानदान वाले व्यक्तियों को अपने पास इसलिए रखते हैं, क्योंकि वे राजा का साथ उन्नति के समय तथा विपत्ति के समय भी नहीं छोड़ते।

चाणक्य के अनुसार उच्च संस्कारों तथा अच्छी शिक्षा वाले व्यक्तियों का यह स्वाभाविक गुण होता है कि वे राजा के हर काम में सहायक होते हैं। वे उसकी उन्नति के समय तथा संकट आने के समय भी साथ नहीं छोड़ते। इसीलिए बुद्धिमान राजा राज्य के महत्वपूर्ण पदों पर ऐसे व्यक्तियों की नियुक्ति करते हैं।

10. **प्रलये भिन्नमर्यादा भवन्ति किल सागराः।**
सागरा भेदमिच्छन्ति प्रलयेऽपि न साधवः॥

प्रलय की स्थिति में समुद्र भी अपनी मर्यादा का उल्लंघन कर देता है परन्तु सज्जन व्यक्ति प्रलय में भी अपनी मर्यादा नहीं छोड़ते।

चाणक्य के अनुसार धैर्यवान, गम्भीर और सज्जन व्यक्ति सागर की अपेक्षा श्रेष्ठ होता है। प्रलय के समय सागर सारी मर्यादा भूलकर अपनी सभी सीमाएँ तोड़ देता है, परन्तु श्रेष्ठ व्यक्ति अनेक संकटों के आने पर भी गम्भीर बना रहता है, उन्हें सहन करता है और अपनी मर्यादाओं का कभी उल्लंघन नहीं करता।

11. **रूपयौवनसम्पन्नाः विशालकुलसम्भवाः।**
विद्याहीना न शोभन्ते निर्गन्धा इव किंशुकाः॥

सुन्दर रूप वाला, यौवन से युक्त, ऊँचे कुल में उत्पन्न होने पर भी विद्या से हीन मनुष्य सुगंधरहित टेसू के फूल के समान रहता है।

चाणक्य कहते हैं कि व्यक्ति की पहचान अच्छे कुल में जन्म लेने से और उसके सुन्दर शरीर मात्र से ही नहीं हो जाती। विद्या से हीन मनुष्य की स्थिति टेसू के उसी फूल के समान होती है जो सुन्दर होने पर भी गन्धरहित होता है। अर्थात् विद्याहीन व्यक्ति की उपेक्षा सभी जगह होती है।

12. **कोकिलानां स्वरो रूपं स्त्रीणां रूपं पतिव्रतम्।**
विद्या रूपं कुरूपाणां क्षमा रूपं तपस्विनाम्॥

कोयल का सौन्दर्य उसके स्वर में है, स्त्रियों का सौन्दर्य उसके पतिव्रत धर्म में है, कुरूप व्यक्ति का सौन्दर्य उसके विद्यावान होने में है और तपस्वियों की शोभा उनके क्षमावान होने में है।

अर्थात् व्यक्ति का सौन्दर्य उसके गुणों में निहीत रहता है। जिस प्रकार कोयल को उसकी मीठी कूक के कारण सभी पसन्द करते हैं। इसी प्रकार स्त्री का सौन्दर्य उसका पतिव्रत धर्म है। शरीर से कुरूप व्यक्ति भी विद्या के कारण आदरणीय बन जाता है। तप करने वाले व्यक्ति की शोभा उसकी क्षमाशीलता के कारण होती है।

13. **लालयेत् पञ्च वर्षाणि दश वर्षाणि ताडयेत्।**
प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत्॥

पाँच वर्ष की आयु तक अपने पुत्र से प्यार करना चाहिए, इसके बाद दस वर्ष तक उसको ताड़ना के द्वारा अनुशासित किया जा सकता है, परन्तु सोलह वर्ष की आयु के बाद उससे मित्र के समान व्यवहार करना चाहिए।

चाणक्य के अनुसार पाँच वर्ष की आयु तक के बच्चे के साथ प्यार-दुलार किया जा सकता है, इसके पश्चात् दस वर्ष व पन्द्रह वर्ष की आयु तक उसे दण्ड दिया जा सकता है, परन्तु सोलह वर्ष की आयु तक पहुँचने पर उसके साथ मित्र जैसा व्यवहार करना चाहिए।

14. **अतिरूपेण वै सीता अतिगर्वेण रावणः।**
अतिदानं बलिर्बद्धो अति सर्वत्र वर्जयेत्॥

अत्यन्त सुन्दर होने के कारण ही सीता का हरण हुआ, अधिक अहंकार के कारण रावण

मारा गया, अत्यधिक दान देने के कारण राजा बलि को कष्ट उठाना पड़ा। इसलिए अति का सर्वत्र त्याग कर देना चाहिए।

चाणक्य ने इस श्लोक में यह समझाने का प्रयत्न किया है कि प्रत्येक कार्य की एक सीमा होती है। अतः व्यक्ति को अपनी सीमा में रहना चाहिए। उसे सभी स्थानों पर अति का त्याग कर देना चाहिए।

15. त्यज दुर्जनसंसर्गं भज साधुसमागमम्।
कुरु पुण्यमहोरात्रं स्मर नित्यमनित्यताम्॥

दुष्टों की संगति को त्याग दो और सज्जन पुरुषों की संगति करो। दिन-रात धार्मिक आचरण करो और प्रतिदिन परमेश्वर का ध्यान करो।

इस श्लोक में चाणक्य ने मनुष्यों को सार्थक जीवन बिताने के लिए कुसंगति को छोड़कर धार्मिक आचरण करते हुए प्रभु का स्मरण करने के लिए कहा है।

16. कुग्रामवासः कुलहीनसेवा कुभोजनं क्रोधमुखी च भार्या।
पुत्रश्च मूर्खो विधवा च कन्या विनाऽग्निना षट् प्रदहन्ति कायम्॥

अनुपयुक्त स्थान में रहना, नीच व्यक्ति की सेवा, अरूचिकर भोजन करना, झगड़ालू स्त्री, मूर्ख पुत्र और विधवा कन्या, ये छः दुःख बिना अग्नि के ही व्यक्ति को जलाते रहते हैं।

कुछ कष्ट ऐसे होते हैं, जिनसे व्यक्ति जवीन-भर दुःखी रहता है। जेसे अनुपयुक्त स्थान पर रहना, किसी नीच व्यक्ति की नौकरी करना, पौष्टिकता से रहित व अरुचिकर भोजन करना, झगड़ालू पत्नी का होना, इसी प्रकार मूर्ख पुत्र और अपनी लड़की का विधवा हो जाना।

17. अनभ्यासे विषं शास्त्रमजीर्णे भोजनं विषम्।
दरिद्रस्य विषं गोष्ठी वृद्धस्य तरुणी विषम्॥

अभ्यास के बिना शास्त्र अर्थात् विद्या विष बन जाती है, अजीर्ण अर्थात् बिना पचा भोजन विष के समान हानिकारक होता है। निर्धन के लिए स्वजनों के समाज में रहना विष के समान होता है, इसी प्रकार बूढ़े पुरुष के लिए युवा स्त्री विष के समान होती है।

शास्त्र ज्ञान के लिए निरन्तर अभ्यास आवश्यक है। अपचन की स्थिति में भोजन करना विष के समान कष्ट देता है। दरिद्र व्यक्ति को सभा, समाज में अपमान सहना पड़ता है, इसी प्रकार बूढ़ा व्यक्ति शारीरिक रूप से निर्बल होने के कारण किसी नवयौवना को यौन संस्तुष्टि प्रदान नहीं कर सकता।

18. एकाकिना तपो द्वाभ्यां पठनं गायनं त्रिभिः।
चतुर्भिर्गमनं क्षेत्रं पञ्चभिर्बहुभी रणः॥

तपस्या एकांत में, अध्ययन दो के साथ और गाने का अभ्यास तीन व्यक्तियों को मिलकर करना चाहिए, इसी प्रकार यात्रा चार लोगों के साथ, खेती आदि कार्य पांच लोगों के साथ और युद्ध बहुत लोगों की सहायता के साथ ही करना चाहिए।

लोक व्यवहार से सम्बन्धित इस श्लोक में चाणक्य कहते हैं कि प्रत्येक कार्य को अच्छे ढंग से पूर्ण करने के लिए व्यक्तियों की संख्या अलग-अलग निर्धारित की गई है। इसी के अनुसार कार्य करने पर परिणाम अच्छा प्राप्त होता है।

19. अग्निर्देवो द्विजातीनां मुनीनां हृदि दैवतम्।
प्रतिमा स्वल्पबुद्धीनां सर्वत्र समदर्शिनः॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इनका देवता यज्ञ है। मुनियों के देवता उनके हृदय में निवास करते हैं। मूर्खों के लिए मूर्ति ही देवता है और जिनकी दृष्टि समान रहती है, वे सब स्थानों पर परमेश्वर को विद्यमान मानते हैं।

चाणक्य के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपनी आस्था, विश्वास और संस्कार के चलते ही अपने आराध्य देवता की रचना कर लेते हैं।

20. कः कालः कानि मित्राणि को देशः कौ व्ययाऽऽगमौ।
कश्चाऽहं का च मे शक्तिरिति चिन्त्यं मुहुर्मुहुः॥

बुद्धिमान व्यक्ति को निम्न बातों पर हर समय विचार करते रहना चाहिए कि मेरा समय कैसा (अनुकूल या प्रतिकूल) है? मेरे मित्र कितने और कैसे हैं? मैं जिस स्थान पर रहता हूँ, वह कैसा है? मेरी आय और व्यय कितनी है? मैं कौन हूँ? मेरी शक्ति क्या है यानी मैं क्या करने में समर्थ हूँ?

चाणक्य कहते हैं कि विचारवान् व्यक्ति को सदैव अपने जीवन और परिस्थितियों के सम्बन्ध में गहनता से विचार करते रहना चाहिए और उसके अनुसार ही आवश्यक परिवर्तन भी करना चाहिए।

21. जनिता चोपनेता च यस्तु विद्यां प्रयच्छति।
अन्नदाता भयत्राता पञ्चैते पितरः स्मृताः॥

जन्म देने वाला पिता, यज्ञोपवीत कराने वाला गुरु, विद्या देने वाला अध्यापक, अन्न देने वाले और भय से मुक्त रखने वाले पाँच व्यक्तियों को पितर माना गया है।

चाणक्य का मत है कि पंचपितरों को सदैव संतुष्ट रखना चाहिए। मनुष्य के जीवन में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका होती है, अतः उनका सम्मान करना चाहिए।

22. राजपत्नी गुरोः पत्नी मित्रपत्नी तथैव च।
पत्नीमाता स्वमाता च पञ्चैता मातरः स्मृताः॥

राजा की पत्नी, गुरु की पत्नी, मित्र की पत्नी, पत्नी की माता अर्थात् सास और जन्म देने वाली अपनी माता—ये पाँच माताएँ मानी गई हैं।

इस श्लोक में चाणक्य ने पाँच माताओं को प्रतिष्ठापित करते हुए उनके प्रति कर्त्तव्यों के निर्वहन की बात कही है। अर्थात् राजा की पत्नी, गुरु की पत्नी, मित्र की पत्नी, सास और अपनी जननी के साथ समान व्यवहार करना चाहिए।

23. एकोदरसमुद्भूता एक नक्षत्रजातकाः।
न भवन्ति समाः शीले यथा बदरिकण्टकाः॥

एक ही माता के गर्भ और एक ही नक्षत्र में उत्पन्न हुई संतान गुण, कर्म और स्वभाव से एक जैसे नहीं होते। जैसे बेर वृक्ष में फल और उनके कांटे।

चाणक्य कहते हैं कि जिस प्रकार बेर के एक ही वृक्ष पर फल और कांटे भी होते हैं, उसी प्रकार यह आवश्यक नहीं कि एक ही माता-पिता से जन्म लेने वाले बच्चों के गुण, कर्म और स्वभाव एक जैसे हों।

24. नाऽस्ति कामसमो व्याधिर्नाऽस्ति मोहसमो रिपुः।
नाऽस्ति कोपसमो वह्निर्नाऽस्ति ज्ञानात् परं सुखम्॥

कामवासना के समान दूसरा कोई रोग नहीं। मोह के समान कोई शत्रु नहीं। क्रोध के जैसी कोई आग नहीं और ज्ञान से बढ़कर सुख देने वाली कोई वस्तु नहीं।

चाणक्य के अनुसार कामवासना में लिप्त रहने वाला व्यक्ति अनेक रोगों का शिकार हो जाता है, व्यभिचारी होने से वह अपना नाश कर लेता है। व्यक्ति को क्रोध जला डालता है और जो व्यक्ति बुद्धि और विवेक से कार्य करता है, वह सदा सुखी रहता है। इस संसार में ज्ञान से बढ़कर कोई सुख नहीं होता है।

25. अभ्यासाद्धार्यते विद्या कुलं शीलेन धार्यते।
गुणेन ज्ञायते त्वार्यः कोपो नेत्रेण गम्यते॥

अभ्यास से विद्या को प्राप्त किया जा सकता है। उत्तम गुण और स्वभाव से कुल का गौरव बढ़ता है। श्रेष्ठ पुरुष की पहचान अच्छे गुणों से होती है और आँखें देखकर क्रोध का ज्ञान होता है।

चाणक्य के अनुसार व्यक्ति के स्वभाव, उसके गुण और उसके चेहरे से उसका परिचय प्राप्त किया जा सकता है अर्थात् उसके भीतरी भावों का पता लग जाता है।

26. वित्तेन रक्ष्यते धर्मो विद्या योगेन रक्ष्यते।
मृदुना रक्ष्यते भूपः सत्स्त्रिया रक्ष्यते गृहम्॥

धर्म की रक्षा धन से की जाती है। विद्या को योग साधना के द्वारा बचाया जा सकता है। मृदुल स्वभाव से राजा की रक्षा होती है और सच्चरित्र स्त्रियाँ घर की रक्षक होती हैं।

धर्म की रक्षा अर्थात् धार्मिक अनुष्ठान के लिए धन की आवश्यकता होती है। विद्या को स्थिर रखने के लिए निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता होती है। राजा की रक्षा मधुर व्यवहार के कारण होती है। यानी राजा को अपनी प्रजा के प्रति मृदुल व्यवहार करना चाहिए। इसी प्रकार कुलीन स्त्रियों से घर-परिवार की रक्षा होती है।

27. दारिद्र्यनाशनं दानं शीलं दुर्गतिनाशनम्।
अज्ञाननाशिनी प्रज्ञा भावना भयनाशिनी॥

दान देने से दरिद्रता नष्ट होती है, शालीनता से कष्ट दूर होते हैं, बुद्धि से अज्ञान नष्ट होता है, इसी तरह ईश्वर की भक्ति से भय दूर होता है।

आचार्य चाणक्य ने कहा है कि दान देने से दरिद्रता नष्ट होती है। अच्छे गुणों और सुशीलता से कष्ट दूर हो जाता है, इसी प्रकार जो व्यक्ति नित ईश्वर की प्रार्थना करते हैं, वे सदैव दुर्गुणों से बचे रहते हैं।

28. न पश्यति च जन्मान्धः कामान्धो नैव पश्यति।
न पश्यति मदोन्मत्तो ह्यर्थी दोषान् न पश्यति॥

जन्म से अंधे व्यक्ति को कुछ दिखाई नहीं देता, कामांध व्यक्ति को भी भला-बुरा नहीं सूझता, नशे में मस्त व्यक्ति कुछ नहीं सोच पाता, इसी प्रकार स्वार्थी व्यक्ति भी बुराइयों को नहीं देखता।

29. भ्रमन् सम्पूज्यते राजा भ्रमन् सम्पूज्यते द्विजः।
भ्रमन् सम्पूज्यते योगी स्त्री भ्रमन्ती विनश्यति॥

अपनी प्रजा में घूम-फिर कर उनके कष्टों को दूर करने वाला राजा सम्मानित होता है, जो

विद्वान् देश-प्रदेश में ज्ञान का प्रचार करता है, उसकी पूजा होती है, जो योगी एक स्थान पर नहीं टिकता, सब स्थानों में घूमता रहता है, वह आदर-सत्कार पाता है, परन्तु भ्रमण करने वाली स्त्री भ्रष्ट हो जाती है।

चाणक्य के अनुसार राजा का कर्तव्य है कि वह अपने राज्य में भ्रमण कर प्रजा की वास्तविक स्थिति ज्ञात करने की कोशिश करे। विद्वान् का कर्तव्य है कि वह घूम-फिरकर लोगों को शास्त्रों का ज्ञान दे, साधु-संन्यासी का भी कर्तव्य है कि वह भ्रमण कर लोगों को अच्छे आचरण का उपदेश दे, परन्तु इनके समान इधर-उधर घूमने वाली नारी अपने धर्म से विचलित हो जाती है।

30. सन्तोषाऽमृत-तृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम्।
न च तद् धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम्॥

व्यक्ति को संतोष-रूपी अमृत से तृप्त होने पर जो सुख-शांति मिलती है, वह धन की प्राप्ति के लिए इधर-उधर भटकने से प्राप्त नहीं हो सकती।

चाणक्य कहते हैं कि इस संसार में संतोष से बढ़कर दूसरा कोई सुख नहीं होता।

31. सिंहादेकं बकादेकं शिक्षेच्चत्वारि कुक्कुटात्।
वायसात्पञ्च शिक्षेच्च षट् शुनस्त्रीणि गर्दभात्॥

शेर और बगुले से एक-एक गुण, गधे से तीन, मुर्गे से चार, कौए से पाँच गुण और कुत्ते से छह गुण सीखे जा सकते हैं। आगामी चार श्लोगों में इन गुणों का वर्णन किया गया है।

चाणक्य के अनुसार हमें अच्छे गुण जहाँ भी मिलें उसे अवश्य ग्रहण कर लेना चाहिए।

32. प्रभूतं कार्यमल्पं वा यन्नरः कर्तुमिच्छति।
सर्वारम्भेण तत्कार्यं सिंहादेकं प्रचक्षते॥

कार्य छोटा हो या बड़ा, उसे पूरी शक्ति लगाकर करना चाहिए। जैसे सिंह अपने हर शिकार को कभी नहीं छोड़ता।

इसका अर्थ है कि व्यक्ति जो भी कार्य करे, वह छोटा हो या बड़ा, उसे पूरी तन्मयता के साथ करना चाहिए, तभी उसमें सफलता प्राप्त होती है।

33. इन्द्रियाणि च संयम्य बकवत् पण्डितो नरः।
देशकालबलं ज्ञात्वा सर्वकार्याणि साधयेत्॥

बुद्धिमान व्यक्ति को अपनी इन्द्रियों को वश में करके बगुले के समान पूरी एकाग्रता से अपने कार्य को सिद्ध करना चाहिए।

चाणक्य के अनुसार बुद्धिमान व्यक्ति को देश, काल के अनुसार अपने सामर्थ्य को पहचानते हुए पूरी एकाग्रता से कार्य को करना चाहिए। तभी सफलता प्राप्त होती है।

34. प्रत्युत्थानं च युद्धं च संविभागं च बन्धुषु।
स्वयमाक्रम्य भुक्तं च शिक्षेच्चत्वारि कुक्कुटात्॥

सूर्योदय से पहले जागना, युद्ध के लिए सदा तैयार रहना, अपने बंधुओं को उनका उचित हिस्सा देना और स्वयं आक्रमण करके अपना भोजन प्राप्त करना—ये चार बातें मुर्गे से सीखनी चाहिए।

अथर्ववेद में बताए गए उपदेश को चाणक्य ने मुर्गे के उदाहरण से समझाया है।

35. **गूढं च मैथुनं धाष्ट्र्यं काले काले च संग्रहम्।**
अप्रमत्तमविश्वासं पञ्च शिक्षेच्च वायसात्॥

गुप्त स्थान पर सम्भोग करना, ढीठ होना, समय-समय पर आवश्यक वस्तुएँ संग्रहीत करना, निरन्तर सावधान रहना और किसी दूसरे पर पूरी तरह विश्वास नहीं करना, ये पाँच बातें कौए से सीखनी चाहिए।

36. **बह्वाशी स्वल्पसन्तुष्टः सुनिद्रो लघुचेतनः।**
स्वामिभक्तश्च शूरश्च षडेते श्वानतो गुणाः॥

कुत्ते को जब खाने को मिलता है, तो बहुत अधिक खाता है और जब उसे कुछ भी नहीं मिलता तो भी वह संतुष्ट रहता है। वह गहरी नींद सोता है, परन्तु थोड़ी-सी आहट होने पर एकदम जग जाता है। वह स्वामिभक्त होता है। स्वामी के प्रति वफादारी रखता है और लड़ने में जरा भी नहीं घबराता।

ये छः गुण कुत्ते से सीखने चाहिए।

37. **सुश्रान्तोऽपि वहेद् भारं शीतोष्णं न च पश्यति।**
सन्तुष्टश्चरते नित्यं त्रीणि शिक्षेच्च गर्दभात्॥

व्यक्ति को गधे से तीन बातें सीखनी चाहिए—अत्यंत थके हुए होने पर भी बोझ ढोना, सर्दी-गर्मी की चिन्ता न करना, सदा संतोष से विचरण करना।

चाणक्य कहते हैं कि व्यक्ति को जो काम सौंपा जाए, उसे अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर करना चाहिए। उसे सर्दी-गर्मी अर्थात् सुख-दुःख की परवाह नहीं करनी चाहिए और उसे अपनी स्थिति से संतुष्ट रहकर जीवन को अच्छी तरह बिताना चाहिए।

38. **य एतान् विंशतिगुणानाचरिष्यति मानवः।**
कार्याऽवस्थासु सर्वासु अजेयः स भविष्यति॥

जो व्यक्ति उपरोक्त बीस गुणों को अपने आचरण में उतारता है, वह सभी कार्यों में विजयी होता है। चाणक्य ने उपर्युक्त बीस गुणों के महत्व को स्पष्ट करते हुए कहा है कि इन्हें अपनाने से व्यक्ति को किसी भी अवस्था में पराजय का सामना नहीं करना पड़ता है।

39. **धन-धान्यप्रयोगेषु विद्यासंग्रहणेषु च।**
आहारे व्यवहारे च तयक्तलज्जः सुखी भवेत्॥

जो धन-धान्य के लेन-देन में, विद्या सीखने में, भोजन के समय तथा अन्य व्यवहारों में संकोच नहीं करता है, वह सुखी रहता है।

व्यक्ति को लेन-देन में किसी प्रकार का संकोच नहीं करना चाहिए। चाणक्य के अनुसार विद्या अथवा किसी गुण के सीखते समय और भोजन करते समय जो व्यक्ति संकोच करता है, उसे हानि उठानी पड़ती है।

40. **अनुलोमेन बलिनं प्रतिलोमेन दुर्जनम्।**
आत्मतुल्यबलं शत्रुं विनयेन बलेन वा॥

बलवान शत्रु को उसके अनुकूल व्यवहार करके, दुर्बल शत्रु को अपनी शक्ति के द्वारा और समान बल वाले शत्रु को विनय या बल से वश में करना चाहिए।

चाणक्य का कहना है कि परिस्थिति के अनुसार अपने शत्रु से व्यवहार करना चाहिए,

यदि शत्रु अपने से बलवान है तो विनयपूर्वक उसे जीतने का प्रयत्न करना चाहिए। दुष्ट/दुर्बल शत्रु पर बल प्रयोग करना चाहिए।

41. बाहुवीर्यं बलं राज्ञो ब्राह्मणो ब्रह्मविद् बली।
रूपयौवनमाधुर्यं स्त्रीणां बलमुत्तमम्॥

राजा की शक्ति उसकी भुजाओं में, विद्वान् का बल उसके ज्ञान में और स्त्रियों का बल उनकी सुन्दरता और मधुर व्यवहार में होता है।

42. सन्तोषस्त्रिषु कर्तव्यः स्वदारे भोजने धने।
त्रिषु चैव न कर्तव्योऽध्ययने तपदानयोः॥

अपनी पत्नी, भोजन और धन—इन तीनों के प्रति संतोष रखना चाहिए, परन्तु विद्या अध्ययन, तप और दान के प्रति कभी संतोष नहीं करना चाहिए।

इस महत्वपूर्ण श्लोक में चाणक्य ने बताया है कि ज्ञान प्राप्ति, तपस्या और दान देने में संतोष न करना ही श्रेयस्कर होता है।

43. पादाभ्यां न स्पृशेदग्निं गुरुं ब्राह्मणमेव च।
नैव गां न कुमारीं च न वृद्धं न शिशुं तथा॥

अग्नि, गुरु, ब्राह्मण, गाय, कुँवारी कन्या, बूढ़े व्यक्ति और छोटे बच्चे को पैर से कभी नहीं छूना चाहिए।

चाणक्य के अनुसार कुछ कार्य आचार-व्यवहार के विपरीत होते हैं, इसलिए उन्हें नहीं करना चाहिए। पैर से छूने का अर्थ पवित्र लोगों और वस्तुओं का अपमान करना है।

44. शकटं पञ्चहस्तेन दशहस्तेन वाजिनम्।
हस्ती शतस्तेन देशत्यागेन दुर्जनम्॥

बैलगाड़ी से पाँच हाथ, घोड़े से दस हाथ और हाथी से सौ साथ दूर रहना चाहिए। दुष्ट आदमी से बचने के लिए उस स्थान का ही त्याग कर देना चाहिए।

45. हस्ती अंकुशमात्रेण वाजी हस्तेन ताड्यते।
शृङ्गी लगुडहस्तेन खड्गहस्तेन दुर्जनः॥

हाथी को अंकुश से, घोड़े को हाथ में लिए चाबुक से, सींग वाले पशुओं को डण्डे से वश में किया जाता है और दुष्ट व्यक्ति को नियन्त्रण में करने के लिए तलवार आवश्यक है।

इस श्लोक में चाणक्य ने दुष्ट व्यक्ति को हाथी, घोड़े और बैल से भी अधिक खतरनाक बताया है।

46. तुष्यन्ति भोजने विप्रा मयूरा घनगर्जिते।
साधवः परसम्पत्तौ खलः परविपत्तिषु॥

अध्ययन-अध्यापन में तत्पर लोग भोजन से तृप्त हो जाते हैं, मोर बादलों के गर्जने पर संतुष्ट होता है और सज्जन आदमी दूसरे को सम्पन्न और सुखी देखकर आनन्दित होते हैं, परन्तु दुष्ट लोग दूसरों को विपत्ति में उलझा देखकर खुश होते हैं।

चाणक्य कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वभाव के अनुरूप अलग-अलग बातों से संतुष्ट होता है।

47. शुनः पुच्छमिव व्यर्थं जीवितं विद्यया विना।
न गुह्यगोपने शक्तं न च दंशनिवारणे॥

विद्या के अभाव में मनुष्य का जीवन कुत्ते की उस पूँछ के समान हो जाता है, जिससे न तो वह अपने शरीर के गुप्त भागों को ढक सकता है और न ही काटने वाले मच्छरों आदि से स्वयं को बचा सकता है।

विद्या के महत्व को समझाते हुए चाणक्य कहते हैं कि इसके अभाव में व्यक्ति स्वयं के हित में कुछ भी नहीं कर पाता है।

48. यत्रोदकं तत्र वसन्ति हंसाः तथैव शुष्कं परिवर्जयन्ति।
न हंसतुल्येन नरेण भाव्यं पुनस्त्यजन्ते पुनराश्रयन्ते॥

जिस सरोवर में जल रहता है, हंस वहीं रहते हैं और जब जल सूख जाता है, तो उस स्थान को छोड़ देते हैं, परन्तु मनुष्य को हंस के समान नहीं होना चाहिए।

चाणक्य ने मनुष्य के लिए हंस जैसा व्यवहार स्वार्थयुक्त बताया है। मनुष्य का कर्तव्य है कि वह जिसका एक बार आश्रय ले, उससे सदैव सम्बन्ध स्थापित रखना चाहिए।

49. उपार्जितानां वित्तानां त्याग एव हि रक्षणम्।
तडागोदकसंस्थानां परीवाह इवाऽम्भसाम्॥

अर्जित किए हुए धन को उचित ढंग से व्यय करना, उससे लाभ उठाना ही उसकी रक्षा है। जिस प्रकार तालाब में भरे हुए जल के प्रवाहित होते रहने से ही उस तालाब का पानी शुद्ध और पवित्र बना रहता है।

चाणक्य कहते हैं कि धन कमाने के बाद यदि उसका सही उपयोग नहीं किया जाएगा तो वह धन व्यर्थ है ठीक उसी प्रकार जैसे तालाब में भरे हुए पानी को यदि निकाला न जाएगा तो वह सड़ जाएगा।

50. स्वर्गस्थितानामिह जीवलोके चत्वारि चिह्नानि वसन्ति देहे।
दानप्रसङ्गो मधुरा च वाणी देवाऽर्चनं ब्राह्मणतर्पणं च॥

स्वर्ग से इस संसार में आने वाले लोगों में चार प्रमुख गुण होते हैं। उनमें दान देने की प्रवृत्ति होती है। वे मधुर भाषी होते हैं। वे देवताओं की पूजा-अर्चना करते हैं और विद्वान् व ज्ञानी लोगों को तृप्त रखते हैं।

चाणक्य के अनुसार जिन व्यक्तियों में उपर्युक्त चार गुण होते हैं, उन्हें श्रेष्ठ प्राणी माना जाता है।

51. अत्यन्तकोपः कटुका च वाणी दरिद्रता च स्वजनेषु वैरम्।
नीचप्रसङ्गः कुलहीनसेवा चिह्नानि देहे नरकस्थितानाम्॥

अत्यंत क्रोधी, कड़वी वाणी बोलने वाले, दरिद्र, अपने सम्बन्धियों से बैर रखने वाले, दुष्ट व्यक्तियों के साथ रहने वाले और नीच कुल के लोगों की सेवा करने वाले मनुष्य को पृथ्वी लोक में ही नरक के दुःखों का आभास हो जाता है।

52. गम्यते यदि मृगेन्द्र-मंदिरं लभ्यते करिकपोलमौक्तिकम्।
जम्बुकाऽऽलयगते च प्राप्यते वत्स-पुच्छ-खर-चर्म-खण्डनम्॥

सिंह की गुफा में जाने पर हाथी के मस्तक का मोती प्राप्त हो सकता है, लेकिन गीदड़ की गुफा में जाने पर किसी बछड़े की पूँछ का टुकड़ा अथवा गधे की खाल का टुकड़ा ही प्राप्त होगा।

चाणक्य कहते हैं कि साहसी और शूरवीर व्यक्ति की संगत से धन व ऐश्वर्य की प्राप्ति हो सकती है, परन्तु दुष्ट और नीच व्यक्ति की संगति से कुछ भी प्राप्त नहीं होता।

53. दीपो भक्षयते ध्वान्तं कज्जलं च प्रसूयते।
यदन्नं भक्षयेन्नित्यं जायते तादृशी प्रजा॥

जिस प्रकार दीपक अंधकार को खा जाता है और उससे काजल की उत्पत्ति होती है, इसी प्रकार मनुष्य जैसा अन्न खाता है, वैसी ही उसकी संतान उत्पन्न होती है।

चाणक्य के अनुसार जो व्यक्ति अच्छे कार्यों से अपनी आजीविका चलाएगा तो उसकी संतान भी सद्गुणों से युक्त होगी, यदि वह बेईमानी से अर्जित धन से अपनी संतान का पालन-पोषण करता है तो उसकी संतान भी उसी प्रकार के गलत कार्यों में संलग्न हो जाती है।

54. वाचः शौचं च मनसः शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
सर्वभूते दया शौचं एतच्छौचं पराऽर्थिनाम्॥

वाणी में पवित्रता, मन की शुद्धता, इन्द्रियों का संयम, प्राणिमात्र पर दया, धन की पवित्रता आदि गुण मोक्ष प्राप्त करने वाले मनुष्यों के लक्षण होते हैं।

55. पुष्पे गन्धं तिले तैलं काष्ठेऽग्निं पयसि घृतम्।
इक्षौ गुडं तथा देहे पश्याऽऽत्मानं विवेकतः॥

जिस प्रकार फूल में सुगन्ध, तिलों में तेल, सूखी लकड़ी में अग्नि, दूध में घी और ईख में मिठास अदृश्य रूप में उपस्थित होते हैं, वैसे ही शरीर में आत्मा और परमात्मा विद्यमान रहते हैं।

इस श्लोक में चाणक्य कहते हैं कि विवेक के सहारे अपने भीतर अदृश्य रूप में उपस्थित आत्मा को समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

56. अधमा धनमिच्छन्ति धनं मानं च मध्यमाः।
उत्तमा मानमिच्छन्ति मानो हि महतां धनम्॥

नीच कोटि के लोग केवल धन की इच्छा करते हैं, मध्यम श्रेणी के लोग धन और सम्मान दोनों की और उत्तम कोटि के मनुष्य केवल आदर-सम्मान की ही इच्छा रखते हैं।

इस श्लोक में चाणक्य यश-सम्मान की महत्ता को बताते हुए कहते हैं कि उत्तम कोटि के लोग धन की अपेक्षा सम्मान की कामना करते हैं।

57. नाग्निहोत्रं विना वेदा न च दानं विना क्रिया।
न भावेन विना सिद्धिस्तस्माद्भावो हि कारणम्॥

यज्ञ किए बिना वेदों का अध्ययन करना व्यर्थ है तथा दान के बिना यज्ञ करना व्यर्थ है। भाव के बिना किसी भी कार्य में सफलता प्राप्त नहीं होती है।

चाणक्य के अनुसार किसी भी कार्य को सिद्ध करने के लिए उसमें आस्था होना आवश्यक है।

58. तैलाऽभ्यंगे चिताधूमे मैथुने क्षौरकर्मणि।
तावद्भवति चाण्डालो यावत्स्नानं न चाऽऽचरेत्॥

तेल से शरीर की मालिश करने के बाद, चिता के धुएँ के स्पर्श के बाद, स्त्री से सम्भोग करने के बाद और हजामत के बाद मनुष्य जब तक स्नान नहीं कर लेता, तब तक वह चाण्डाल यानी अशुद्ध रहता है।

इस श्लोक में चाणक्य ने संक्रमणजनित कार्यों के बाद शरीर को शुद्ध रखने के लिए स्नान को आवश्यक बताया है।

59. अजीर्णे भेषजं वारि जीर्णे वारि बलप्रदम्।
भोजने चामृतं वारि भोजनान्ते विषप्रदम्॥

अपच की स्थिति में जल पीना दवा के समान होता है, भोजन पचने के बाद जल पीने से शरीर का बल बढ़ता है, भोजन के बीच में जल पीना अमृत के समान होता है, परन्तु भोजन के अंत में जल पीना विष के समान हानिकारक होता है।

60. निर्गुणस्य हतं रूपं दुःशीलस्य हतं कुलम्।
असिद्धस्य हता विद्या अभोगेन हतं धनम्॥

गुणहीन व्यक्ति का रूपवान होना व्यर्थ है, दुष्ट स्वभाव वाले व्यक्ति का कुल नष्ट होने योग्य है। जिसमें किसी कार्य को सिद्ध करने की शक्ति न हो, ऐसी विद्या व्यर्थ है और जिस धन का सदुपयोग नहीं किया जाता, वह धन भी व्यर्थ है।

इस श्लोक में आचार्य ने सद्‌गुणों और अच्छे आचरण की महत्ता को व्यक्त किया है।

61. शुचिर्भूमिगतं तोयं शुद्धा नारी पतिव्रता।
शुचिः क्षेमकरो राजा सन्तोषी ब्राह्मणः शुचिः॥

पृथ्वी के भीतर से निकलने वाला पानी शुद्ध होता है। पतिव्रता नारी पवित्र होती है। प्रजा का कल्याण करने वाला राजा पवित्र होता है और संतोषी ब्राह्मण को भी पवित्र माना जाता है।

62. असन्तुष्टा द्विजा नष्टाः सन्तुष्टाश्च महीभृतः।
सलज्जा गणिका नष्टा निर्लज्जाश्च कुलाङ्गनाः॥

संतोषरहित विद्वान संतुष्ट होने वाला राजा, लज्जायुक्त वेश्या और लज्जाहीन कुलीन स्त्रियाँ नष्ट हो जाती हैं।

चाणक्य कहते हैं कि ब्राह्मण को संतोषी होना चाहिए। राजा को महत्त्वाकांक्षी, वेश्या को लज्जाहीन और कुलीन स्त्री को लज्जायुक्त होना चाहिये।

63. न देवो विद्यते काष्ठे न पाषाणे न मृन्मये।
भावे हि विद्यते देवस्तस्माद् भावो हि कारणम्॥

परमेश्वर काठ, पत्थर या मिट्‌टी की मूर्ति में नहीं बसते हैं। वह तो मनुष्य की भावना में विद्यमान रहते हैं अर्थात् मनुष्य की भावना के अनुसार ही प्रभु प्रकट होते हैं।

64. शान्तितुल्यं तपो नास्ति न सन्तोषात्परं सुखम्।
न तृष्णायाः परो व्याधिर्न च धर्मो दयापरः॥

शांति के समान कोई तप नहीं, संतोष से बढ़कर कोई सुख नहीं, तृष्णा से बढ़कर कोई रोग नहीं, दया से बढ़कर कोई धर्म नहीं होता है।

चाणक्य के अनुसार शांति, संतोष और दया से जीवन सुखमय होता है। तृष्णा का भी त्याग कर देना चाहिए।

65. क्रोधो वैवस्वतो राजा तृष्णा वैतरणी नदी।
विद्या कामदुघा धेनुः सन्तोषो नन्दनं वनम्॥

क्रोध यमराज की मूर्ति के समान है। तृष्णा नरक में बहने वाली वैतरणी है। विद्या कामधेनु है और संतोष नंदन वन के समान सुख देने वाला है।

चाणक्य कहते हैं कि क्रोध मनुष्य के शरीर को जला डालता है। मनुष्य की इच्छाएँ कभी समाप्त नहीं होती। विद्या से सब पदार्थों की पूर्ति होती है तथा मनुष्य के जीवन में संतोष तो अत्यन्त सुख देने वाला माना गया है।

66. **मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान् विषवत् त्यज।**
क्षमाऽऽर्जवं दया शौचं सत्यं पीयूषवद् भज॥

यदि तुम मुक्ति चाहते हो तो बुरी आदतों का विष के समान त्याग कर दो और क्षमा, सहनशीलता, दया, पवित्रता और सत्य को अमृत के समान ग्रहण करो।

चाणक्य कहते हैं कि मुक्ति की इच्छा रखने वालों को विषय भोगों का त्याग कर देना चाहिये और सहनशीलता, धैर्य, विनम्रता, उदारता, दया, पवित्रता और सत्य का आचरण करना चाहिए। इससे ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।

67. **परस्परस्य मर्माणि ये भाषन्ते नराधमाः।**
त एवं विलयं यान्ति वल्मीकोदरसर्पवत्॥

जो लोग परस्पर की गुप्त बातों को दूसरे से कह देते हैं, वे दीमक के घर में रहने वाले सांप की तरह नष्ट हो जाते हैं।

चाणक्य कहते हैं कि अपने मित्रों के रहस्य को प्रकट करने वाले व्यक्ति नीच होते हैं। वे शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं।

68. **किं कुलेन विशालेन विद्याहीनेन देहिनाम्।**
दुष्कुलीनोऽपि विद्वांश्च देवैरपि सुपूज्यते॥

विद्याहीन व्यक्ति के कुल के विशाल होने से कोई लाभ नहीं, यदि नीच कुल में उत्पन्न हुआ व्यक्ति विद्वान् है तो देवता भी उसकी पूजा करते हैं।

चाणक्य केवल वंश के महत्व को नहीं मानते, वे व्यक्ति के विद्वान् होने को अधिक आवश्यक और उपयोगी मानते हैं। उनकी मान्यता है कि यदि नीच कुल में उत्पन्न हुआ व्यक्ति भी विद्यायुक्त है तो सभी लोग उसका सम्मान करते हैं।

69. **विद्वान् प्रशस्यते लोके विद्वान् गच्छति गौरवम्।**
विद्यया लभते सर्वं विद्या सर्वत्र पूज्यते॥

संसार में विद्वान् की ही प्रशंसा होती है। विद्वान् को ही सम्मान सहित सब कुछ प्राप्त होता है और विद्या की ही सब जगह पूजा होती है।

70. **मांसभक्षैः सुरापानैर्मूर्खैश्चाक्षरवर्जितैः।**
पशुभिः पुरुषाकारैर्भाराऽऽक्रान्ता च मेदिनी॥

मांस खाने वाले, शराब पीने वाले, मूर्ख और निरक्षर मनुष्य रूपी पशुओं से यह पृथ्वी पीड़ित और दबी रहती है।

इस श्लोक में चाणक्य ने मांसभक्षी, मदिरासेवी, मूर्ख और निरक्षर व्यक्ति को पशुतुल्य मानते हुए उन्हें पृथ्वी पर भार बताया है।

71. **अर्थाऽधीताश्च यैर्वेदास्तथा शूद्रान्नभोजिनः।**
ते द्विजाः किं करिष्यन्ति निर्विषा इव पन्नगाः॥

जो विद्वान् धन की प्राप्ति के लिये वेदों का अध्यापन करते हैं, जो नीच मनुष्यों का अन्न

खाते हैं, वे विषहीन सांप की तरह कुछ भी करने में असमर्थ होते हैं।

चाणक्य कहते हैं कि शूद्रों का अन्न खाने वाले और धन के लिये ज्ञान बांटने वाले ऐसे विद्वान् ब्राह्मणों को संसार में किसी प्रकार का यश और सम्मान प्राप्त नहीं होता।

72. **यस्मिन् रुष्टे भयं नास्ति तुष्टे नैव धनाऽऽगमः।**
निग्रहोऽनुग्रहो नास्ति स रुष्टः किं करिष्यति॥

जिसके नाराज होने का डर नहीं होता, जिसके प्रसन्न होने पर लाभ नहीं होता, जो न दण्ड दे सकता है और न दया कर सकता है उसके नाराज होने से किसी को प्रभाव नहीं पड़ता।

73. **निर्विषेणाऽपि सर्पेण कर्तव्या महती फणा।**
विषमस्तु न चाप्यस्तु घटाटोपो भयङ्करः॥

विषहीन सांप को भी अपना फन फैलाकर रखना चाहिए, उसमें विष होने या न होने को कोई नहीं जानता, पर उसके इस आडम्बर से लोग भयभीत हो सकते हैं।

74. **प्रातर्द्यूतप्रसंगेन मध्याह्ने स्त्रीप्रसङ्गतः।**
रात्रौ चौर्यप्रसंगेन कालो गच्छत्यधीमताम्॥

मूर्ख व्यक्ति प्रातःकाल का समय जुआ खेलने में, दोपहर का समय स्त्री प्रसंग में और रात्रि का समय चोरी में व्यतीत करते हैं।

चाणक्य कहते हैं मूर्ख व्यक्ति अपने समय को व्यर्थ के कार्यों में नष्ट करते हैं जबकि विद्वान् अपने समय का उपयोग अच्छे कार्यों में करते हैं।

75. **सर्वौषधीनाममृता प्रधाना सर्वेषु सौख्येष्वशनं प्रधानम्।**
सर्वेन्द्रियाणां नयनं प्रधानं सर्वेषु गात्रेषु शिरः प्रधानम्॥

सभी ओषधियों में अमृता (गिलोय) सबसे प्रमुख है, सुख देने वाले पदार्थों में भोजन सबसे प्रमुख है, मनुष्य की इन्द्रियों में आंखें सबसे प्रमुख हैं तथा शरीर के सभी अंगों में मनुष्य का सिर अर्थात् बुद्धि सर्वश्रेष्ठ है।

76. **विद्यार्थी सेवकः पान्थः क्षुधाऽऽर्तो भयकातरः।**
भाण्डारी प्रतिहारी च सप्त सुप्तान् प्रबोधयेत्॥

विद्यार्थी, सेवक, पथिक, भूख से पीड़ित, डरा हुआ व्यक्ति, भंडारी और द्वारपाल यदि अपने काम के दौरान सो रहे हों तो इन्हें जगा देना चाहिए।

चाणक्य कहते हैं कि उपर्युक्त सातों व्यक्तियों को कार्य के दौरान सोते समय जगाना हितकर होता है।

77. **अहिं नृपं च शार्दूलं किटिं च बालकं तथा।**
परश्वानं च मूर्खं च सप्त सुप्तान् न बोधयेत्॥

सांप, राजा, शेर, सुअर, बालक, दूसरे के कुत्ते और मूर्ख व्यक्ति को सोते से जगाना नहीं चाहिए।

पूर्वोक्त श्लोक के विपरीत इस श्लोक में चाणक्य ने कुछ लोगों को सुप्तावस्था से जगाने को निषेध किया है।

78. **दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं पिबेज्जलम्।**
शास्त्रपूतं वदेद् वाक्यं मनः पूतं समाचरेत्॥

अच्छी तरह आंख से देखकर आगे कदम बढ़ाना चाहिए, कपड़े से छानकर जल पीना चाहिए, शास्त्रों के अनुसार ही कोई बात कहनी चाहिए और कोई भी कार्य अच्छी तरह सोच-समझकर ही करना चाहिए।

इस श्लोक में चाणक्य ने मनुष्य को अपने प्रत्येक कार्य को पूरी एकाग्रता और ध्यान से करने के लिये कहा है।

79. सुखार्थी वा त्यजेद्विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत् सुखम्।
सुखार्थिनः कुतो विद्या विद्यार्थिनः कुतो सुखम्॥

यदि सुख की इच्छा हो तो विद्या अध्ययन छोड़ देना चाहिए और यदि विद्यार्थी विद्या सीखने की इच्छा रखता है तो उसे सुख का त्याग कर देना चाहिए, क्योंकि सुख चाहने वाला विद्या प्राप्त नहीं कर सकता और जो विद्या प्राप्त करना चाहता है, उसे सुख नहीं मिल सकता।

80. दरिद्रता धीरतया विराजते कुवस्त्रता शुभ्रतया विराजते।
कदन्नता चोष्णतया विराजते कुरूपता शीलतया विराजते॥

दरिद्रता के समय धैर्य धारण करना, गंदे वस्त्र को साफ रखना अच्छा होता है। इसी प्रकार सामान्य भोजन को भी ताजा और गर्म-गर्म खाया जाए तो अच्छा लगता है। सुशीलता के कारण कुरूपता भी बुरी नहीं लगती।

81. आत्मद्वेषात् भवेन्मृत्युः परद्वेषात् धनक्षयः।
राजद्वेषात् भवेन्नाशो ब्रह्मद्वेषात् कुलक्षयः॥

अपनी ही आत्मा से द्वेष रखने वाले की मृत्यु हो जाती है। दूसरों से द्वेष रखने वाले का धन नष्ट होता है। राजा से द्वेष रखने वाला मनुष्य अपना नाश करता है, लेकिन ज्ञानी पुरुष व गुरुजनों से द्वेष रखने से कुल का ही नाश हो जाता है।

इस श्लोक में बताया गया है कि जो व्यक्ति अपने आपसे द्वेष रखता है वह नष्ट हो जाता है, इसी प्रकार विद्वानों और सिद्ध पुरुषों से द्वेष रखने वाला व्यक्ति भी नष्ट हो जाता है।

82. रङ्कं करोति राजानं राजानं रङ्कमेव च।
धनिनं निर्धनं चैव निर्धनं धनिनं विधिः॥

भाग्य सबसे प्रबल होता है। उसके ही कारण निर्धन राजा बन सकता है और राजा कंगाल। कहने का तात्पर्य है कि भाग्यवश धनवान व्यक्ति निर्धन बन जाता है और निर्धन के पास अत्यधिक धन आ जाता है।

83. येषां न विद्या न तपो न दानं ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति॥

जिसके पास न विद्या है, न तप है, न उसमें दान देने की प्रवृत्ति है, न ज्ञान है, नम्रता नहीं है, गुण और धर्माचरण की भावना भी नहीं है, ऐसे मनुष्य पशु के रूप में इस संसार में विचरते हैं।

इस प्रसिद्ध श्लोक में चाणक्य ने विद्या के महत्व को इंगित करते हुए विद्याहीन मनुष्य को पशु के समान बताया है।

84. यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम्।
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति॥

जिसके पास अपनी बुद्धि नहीं है, शास्त्र उसका क्या कर सकेगा। जिस प्रकार अंधे के

लिये दर्पण का क्या उपयोग है?

85. बुद्धिर्यस्य बलं तस्य निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम्।
वने सिंहो मदोन्मत्तः शशकेन निपातितः॥

जिसके पास बुद्धि है, उसके पास बल भी होता है, बुद्धिहीन व्यक्ति के पास शक्ति नहीं होती। जिस प्रकार जंगल में अपनी शक्ति के मद में मस्त सिंह को एक खरगोश ने मार डाला था।

कहने का अर्थ यह है कि बुद्धिमान व्यक्ति ही बल का सही उपयोग कर सकता है जबकि बुद्धिहीन, बलवान होते हुए भी उसका उपयोग नहीं कर पाता।

86. वरं वनं व्याघ्रगजेन्द्रसेवितं द्रुमालयं पत्रफलाम्बुभोजनम्।
तृषेणु शय्या शतजीर्णवल्कलं न बंधुमध्ये धनहीनजीवनम्॥

मनुष्य सिंह और हाथियों से युक्त वन में निवास कर सकता है, किसी पेड़ पर अपना घर बनाकर वृक्षों के पत्ते और फल खाकर गुजारा कर ले, तिनकों की शय्या पर सो ले, फटे पुराने वृक्षों की छाल के कपड़े पहन ले, परन्तु अपने भाई-बन्धुओं के साथ दरिद्र बनकर जीवन नहीं बिताना चाहिए।

इस श्लोक में चाणक्य ने निर्धनता को एक प्रकार का अभिशाप कहा है। चाणक्य का मानना है कि व्यक्ति सभी कष्ट सहन कर सकता है, परन्तु अपने सगे-सम्बन्धियों में निर्धनता के कारण अपमान सहन नहीं कर सकता।

87. विप्रो वृक्षस्तस्य मूलं च सन्ध्या वेदाः शाखा धर्मकर्माणि पत्रम्।
तस्मान्मूलं यत्नतो रक्षणीयं छिन्ने मूले नैव शाखा न पत्रम्॥

ज्ञानी एक वृक्ष के समान है और संध्या अर्थात् आराधना उस ब्राह्मणरूपी वृक्ष की जड़ है, वेद उस वृक्ष की शाखाएँ हैं। धर्म-कर्म उसके पत्ते हैं, इसलिये उसे यत्नपूर्वक जड़ की रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि जड़ के नष्ट होने पर न शाखाएँ रहेंगी और न पत्ते।

इस श्लोक में चाणक्य ने ज्ञानियों या विद्वानों के लिये प्रभु उपासना के महत्व को स्पष्ट किया है।

88. एकवृक्षसमारूढा नाना वर्णा विहङ्गमाः।
प्रभाते दशसु दिक्षु तत्र का परिदेवना॥

अनेक रंग-रूप वाले पक्षी रात्रिकाल में एक वृक्ष पर आकर बैठ जाते हैं। प्रातःकाल में वे सभी दसों दिशाओं में उड़ जाते हैं। इस विषय में शोक करने की आवश्यकता नहीं।

चाणक्य के अनुसार इस संसाररूपी परिवार में अनेक बन्धु-बांधव और रिश्तेदार भी समय आने पर बिछुड़ जाते हैं, इस सम्बन्ध में भी शोक करना उचित नहीं।

89. दातृत्वं प्रियवक्तृत्वं धीरत्वमुचितज्ञता।
अभ्यासेन न लभ्यन्ते चत्वारः सहजा गुणाः॥

दान देने की इच्छा, मधुर वचन बोलना, सहनशीलता और उचित-अनुचित का ज्ञान-ये चार बातें मनुष्यों में सहज स्वभाव से ही होती हैं, इन्हें अभ्यास से प्राप्त नहीं किया जा सकता।

चाणक्य मानते हैं कि दानशीलता, मृदुभाषिता, सहनशीलता और प्रबुद्ध वैचारिकता पूर्वजन्म के संस्कार व कुल की कृपा से प्राप्त होती हैं।

90. **आत्मवर्गं परित्यज्य परवर्गं समाश्रयेत्।**
स्वयमेव लयं याति यथा राजाऽन्यधर्मतः॥

जो मनुष्य अपने वर्ग के लोगों को छोड़कर दूसरे वर्ग का सहारा लेता है, वह उसी प्रकार स्वयं नष्ट हो जाता है जैसे अधर्म का आश्रय लेने वाला राजा।

इस श्लोक में चाणक्य कहते हैं कि व्यक्ति को अपने धर्म में स्थित रहना चाहिए, धर्म का त्याग करने से हानि होती है।

91. **हस्तीस्थूलतनुः स चाङ्कुशवशः किं हस्तिमात्रोङ्कुशो**
दीपे प्रज्वलिते प्रणश्यति तमः किं दीपमात्रं तमः।
वज्रेणापि हताः पतन्ति गिरयः किं वज्रमात्रो गिरिस्
तेजो यस्य विराजते स बलवान् स्थूलेषु कः प्रत्ययः॥

हाथी विशाल शरीर वाला होता है, परन्तु उसे अंकुश से वश में किया जाता है। जबकि हाथी के परिमाण की तुलना में अंकुश बहुत ही छोटा होता है। दीपक जलने से अन्धकार नष्ट हो जाता है। क्या अंधकार दीपक के आकार का होता है? वज्र की चोट से बड़े पर्वत भी गिर पड़ते हैं, क्या पर्वत का आकार वज्र जितना होता है? अर्थात् प्रत्येक वस्तु अपने तेज के कारण ही बलवान होती है। लम्बे चौड़े शरीर पर कोई भरोसा नहीं किया जा सकता।

चाणक्य के अनुसार प्रत्येक वस्तु को उसके बल और गुण के आधार पर महत्वपूर्ण समझना चाहिए।

92. **अन्तर्गतमलो दुष्टस्तीर्थस्नानशतैरपि।**
न शुध्यति यथा भाण्डं सुराया दाहितं च यत्॥

जिस व्यक्ति के अंतःकरण में कामवासना, कुटिलता आदि भरी होती है, वह यदि सैकड़ों बार तीर्थ-स्नान करें तो भी पवित्र नहीं हो सकता। जिस प्रकार शराब रखने का बर्तन, आग पर तपाने से भी शुद्ध नहीं हो सकता।

अर्थात् व्यक्ति का अंतःकरण सुधरने से ही उसकी शुद्धता होती है।

93. **न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्षं स तं सदा निन्दति नाऽत्र चित्रम्।**
यथा किराती करिकुम्भजाता मुक्ताः परित्यज्य बिभर्ति गुञ्जाः॥

जिसे किसी वस्तु के गुणों का ज्ञान नहीं होता वह सदा उनकी निन्दा करता रहता है। उसके ऐसा करने से किसी को आश्चर्य नहीं होता है। जैसे जंगल में रहने वाली भीलनी, हाथी के मस्तक में उत्पन्न होने वाले मोतियों को छोड़कर गुँजा फल की माला ही पहनती है।

94. **गृहाऽऽसक्तस्य नो विद्या नो दया मांसभोजिनः।**
द्रव्यलुब्धस्य नो सत्यं स्त्रैणस्य न पवित्रता॥

घर-गृहस्थी में अधिक आसक्ति रखने से व्यक्ति को विद्या की प्राप्ति नहीं हो सकती। जो लोग मांस खाते हैं उनमें दया नहीं होती और जो धन के प्रति लालची होते हैं उनमें सत्य नहीं होता और भोगविलास में लगे रहने वाले मनुष्य में पवित्रता नहीं आती है।

95. **न दुर्जनः साधुदशामुपैति बहुप्रकारैरपि शिक्ष्यमाणः।**
आमूलसिक्तः पयसा घृतेन न निम्बवृक्षो मधुरत्वमेति॥

जिस प्रकार नीम के वृक्ष की जड़ को दूध और घी से सींचने पर भी उसमें मधुरता पैदा

नहीं होती, उसी प्रकार दुर्जन व्यक्ति को अनेक प्रकार के उपदेश देने पर भी उसमें सज्जनता नहीं आती।

96. देयं भोज्यधनं सदा सुकृतिभिर्नो संचितव्यं कदा
श्री कर्णस्य बलेश्च विक्रमपतेरद्यापि कीर्तिः स्थिता।
अस्माकं मधु दानभोगरहितं नष्टं चिरात्सञ्चितं
निर्वाणादिति पाणिपादयुगले घर्षन्त्यहो मक्षिकाः॥

चाणक्य के अनुसार सज्जन व्यक्तियों का धन सदा दान करने के लिये ही होता है। वे कभी उसका संचय नहीं करते हैं। शहद का संग्रह करने वाली मधुमक्खियों को भी पैर रगड़कर पश्चाताप करना पड़ता है, क्योंकि शहद का दान न करने से शहद नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार कुछ लोग धन का दान नहीं करते और जब वह नष्ट होने लगता है तो पश्चाताप करते हैं।

97. हस्तौ दानविवर्जितौ श्रुतिपुटौ सारस्वतद्रोहिणौ
नेत्रे साधुविलोकनेन रहिते पादौ न तीर्थं गतौ।
अन्यायार्जितवित्तपूर्णमुदरं गर्वेण तुंगं शिरो
रे रे जम्बुक मुञ्च मुञ्च सहसा नीचं सुनिन्द्यं वपुः॥

जिसने जीवन में दोनों हाथ से कभी दान न दिया हो, कानों से वेद, शास्त्रों का श्रवण नहीं किया, नेत्रों से सज्जन पुरुषों के दर्शन नहीं किए, पैरों से तीर्थयात्रा नहीं की, जिसने गलत रीति से धन इकट्ठा करके जीविका चलाई और अभिमान से सिर उठाकर चलने वाले हे रंगे सियार! तू तो नीच लोगों से भी नीच है, जितनी जल्द हो सके, इस शरीर को त्याग दे।

भाव यह है कि इस शरीर में रहते हुए हमें सदैव अच्छे कर्म ही करने चाहिए।

98. सानन्दं सदनं सुताश्च सुधियः कान्ता प्रियालापिनी
इच्छापूर्तिधनं स्वयोषिति रतिः स्वाऽऽज्ञापराः सेवकाः।
आतिथ्यं शिवपूजनं प्रतिदिनं मिष्टान्नपानं गृहे
साधोः सङ्गमुपासते च सततं धन्यो गृहस्थाऽऽश्रमः॥

जो घर आनन्द से परिपूर्ण हो, जिसकी संतान बुद्धिमान हों, जिसकी पत्नी मृदुभाषिणी हो, इच्छापूर्ति योग्य धन हो, अच्छे मित्र हों, अपनी पत्नी के प्रति प्रेम हो, नौकर आज्ञा पालन करने वाले हों। जहां अतिथियों का आदर-सम्मान होता हो, परमेश्वर की उपासना होती हो, प्रतिदिन मीठे भोजन और मधुर पेयों की व्यवस्था हो, जिस गृहस्थी को सदा सत्संगति करने का अवसर मिलता हो, ऐसा गृहस्थ आश्रम धन्य है।

इस श्लोक में चाणक्य ने आनन्दमय गृहस्थ जीवन बिताने के लिये आवश्यक बातों का वर्णन किया है।

99. न विप्रपादोदककर्दमानि न वेदशास्त्रध्वनिगर्जितानि।
स्वाहा-स्वधाकार-विवर्जितानि श्मशानतुल्यानि गृहाणि तानि॥

जिन घरों में साधु-सन्तों के पांव नहीं धोए जाते, जहां वेद शास्त्रों के पाठ की ध्वनि न गूंजती हो, जिस घर में स्वाहा और स्वधा शब्दों का उच्चारण नहीं होता, वे घर श्मशान के समान होते हैं।

इस श्लोक में चाणक्य ने विद्वानों के समान सभी मनुष्यों के लिये वेद अध्ययन और यज्ञ को आवश्यक बताया है।

100. सत्यं मातापिता ज्ञानं धर्मो भ्राता दया स्वसा।
शान्तिः पत्नी क्षमा पुत्रः षडेते मम बान्धवाः॥

सत्य मेरी माता है, ज्ञान मेरा पिता है, धर्म मेरा भाई है और दया ही मेरी बहन है, शांति मेरी पत्नी है और क्षमा मेरा पुत्र है-यह छह ही मेरे परिवार के सदस्य हैं।

चाणक्य ने इस श्लोक में संत महात्मा के परिवारीजनों के बारे में बताया है।

101. अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः।
नित्यं सन्निहितो मृत्युः कर्त्तव्यो धर्मसंग्रहः॥

यह शरीर नाशवान है, धन सम्पत्ति भी चलायमान हैं, मृत्यु सदैव निकट रहती है, इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को धर्मानुकूल ही कार्य करना चाहिए।

चाणक्य कहते हैं कि प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह इस संसार में धर्माचरण द्वारा धर्म का संचय करें, क्योंकि धर्म ही मनुष्य की मृत्यु के बाद उसका साथ देता है जबकि धन और शरीर नाशवान होते हैं।

102. साधूनां दर्शनं पुण्यं तीर्थभूता हि साधवः।
कालेन फलते तीर्थं सद्यः साधुसमागमः॥

सज्जन पुरुष के दर्शन से तीर्थ के समान पुण्य प्राप्त होता है, तीर्थाटन समय के अनुसार फल देता है, परन्तु साधुओं की सत्संगति करने से ही मन की सभी आशाएँ तत्काल पूर्ण हो जाती हैं।

103. नाहारं चिन्तयेत् प्राज्ञो धर्ममेकं हि चिन्तयेत्।
आहारो हि मनुष्याणां जन्मना सह जायते॥

बुद्धिमान व्यक्ति को भोजन के सम्बन्ध में चिंता नहीं करनी चाहिए, उसे केवल धर्म का ही चिन्तन करना चाहिए, क्योंकि मनुष्य के भोजन का प्रबन्ध तो उसके जन्म के साथ ही हो जाता है।

104. जलबिन्दुनिपातेन क्रमशः पूर्यते घटः।
स हेतुः सर्वविद्यानां धर्मस्य च धनस्य च॥

जिस तरह बूंद-बूंद गिरने से घड़ा भर जाता है, उसी प्रकार लगातार एकत्रित करते रहने से धन, विद्या और धर्म की प्राप्ति होती है।

चाणक्य के अनुसार मनुष्य को विद्या, धन और धर्म का निरन्तर संचय करते रहना चाहिए।

105. मातृवत् परदारांश्च परद्रव्याणि लोष्ठवत्।
आत्मवत् सर्वभूतानि यः पश्यति स पश्यति॥

जो व्यक्ति दूसरी स्त्रियों को माता के समान, दूसरों के धन को मिट्टी के ढेले के समान समझता है और संसार के सभी प्राणियों को अपनी आत्मा के समान देखता है, वही सत्य को देखता है।

चाणक्य कहते हैं कि इस संसार में वही व्यक्ति बुद्धिमान है जो दूसरे की स्त्री को माता, दूसरों के धन को मिट्टी और सभी प्राणियों को अपने समान समझता है।

106. धर्मे तत्परता मुखे मधुरता दाने समुत्साहता
मित्रेऽवञ्चकता गुरौ विनयता चित्तेऽति गम्भीरता।

आचारे शुचिता गुणे रसिकता शास्त्रेषु विज्ञानता
रूपे सुन्दरता शिवे भजनता सत्स्वेव संदृश्यते॥

धर्म में निरन्तर लगे रहना, मुख से मीठे वचन बोलना, दान देने में उत्सुक रहना, मित्र के प्रति भेद-भाव न रखना, गुरु के प्रति नम्रता और हृदय में गंभीरता, आचरण में पवित्रता, अच्छे गुणों के ग्रहण करने में रुचि, शास्त्रों का विशेष ज्ञान, रूप में सौन्दर्य और प्रभु में भक्ति का होना आदि गुण सज्जन पुरुषों के लक्षण होते हैं।

107. मुहूर्तमपि जीवेच्च नरः शुक्लेन कर्मणा।
न कल्पमपि कष्टेन लोकद्वयविरोधिना॥

मनुष्य को यदि एक मुहूर्त यानी कुछ पलों का जीवन मिले तो भी उसे उत्तम कार्य करना चाहिए, जबकि इस लोक-परलोक में कुकर्म करते हुए हजारों वर्ष जीना भी व्यर्थ है।

चाणक्य कहते हैं कि मनुष्य का जीवन बहुत छोटा हो तो भी उसे अच्छे कर्म करते रहना चाहिए। अर्थात् मनुष्य का धर्म अच्छे कर्म करना है।

108. वयसः परिणामेऽपि यः खलः खल एव सः।
सुपक्वमपि माधुर्यं नोपयातीन्द्रवारुणम्॥

जो व्यक्ति दुष्ट है, वह परिपक्व हो जाने पर भी दुष्ट ही रहता है। जिस प्रकार इंद्रायण का फल पक जाने पर भी मीठा नहीं होता, कड़वा बना रहता है।

इस श्लोक में चाणक्य ने बताया है कि मनुष्य के स्वभाव का उसकी अवस्था से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। यानी परिपक्व होने के बाद भी कई लोग अज्ञानी और दुराचारी बने रहते हैं।

109. धर्मार्थकाममोक्षाणां यस्यैकोऽपि न विद्यते।
अजागलस्तनस्येव तस्य जन्म निरर्थकम्॥

जिसके पास धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से एक भी पुरुषार्थ नहीं होता उसका जीवन, बकरी के गले में लटकते हुए स्तनों के समान निरर्थक होता है।

चाणक्य कहते हैं कि मनुष्य जीवन को सार्थक करने के लिये इन चार पुरुषार्थों को प्राप्त करना आवश्यक है।

110. दह्यमानाः सुतीव्रेण नीचाः पर-यशोऽग्निना।
अशक्तास्तत्पदं गन्तुं ततो निन्दां प्रकुर्वते॥

नीच मनुष्य दूसरे के बढ़ते यश को देखकर उससे जलते हैं और जब उस पद को प्राप्त करने में असमर्थ रहते हैं, तब उस व्यक्ति की निन्दा करने लगते हैं।

चाणक्य कहते हैं दुष्ट व्यक्ति दूसरे की उन्नति को देखकर उससे जलने लगते हैं और उसकी निन्दा करने लगते हैं।

111. बन्धाय विषयाऽऽसक्तं मुक्त्यै निर्विषयं मनः।
मन एवं मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः॥

मनुष्य अपने विचारों का दास है, मनुष्य अपने विचारों के कारण ही बंधनों में फंसता है, उसी के कारण स्वयं को बंधनों से मुक्त समझता है। विषय-वासनाओं से मुक्त होकर ही मनुष्य को मोक्ष प्राप्त होता है।

चाणक्य कहते हैं कि मनुष्य के बंधन और मोक्ष का कारण उसका मन होता है, अतः उसे वश में करना चाहिए।

**112. देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः॥**

अपने शरीर से अभिमान के नष्ट हो जाने पर और स्वयं को परमात्मा से युक्त जान लेने के बाद मन जहाँ-जहाँ जाता है, वहाँ-वहाँ उसे समाधि का अनुभव होता है। अर्थात् परमतत्त्व का ज्ञान हो जाने पर मनुष्य को जागृत अवस्था में भी समाधि का अनुभव हो जाता है।

**113. राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः पापे पापाः समे समाः।
राजानमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजाः॥**

धर्मात्मा राजा की प्रजा भी धार्मिक आचरण करती है और राजा के पापी होने पर प्रजा भी पापी हो जाती है। यदि राजा उदासीन है तो प्रजा भी उदासीन हो जाती है, क्योंकि प्रजा राजा के अनुरूप ही आचरण करती है।

चाणक्य के अनुसार यदि राजा धार्मिक, सत्कर्मी और अच्छे आचरण वाला होता है तो उस राज्य की प्रजा भी वैसा व्यवहार करती है।

**114. एकाक्षरप्रदातारं यो गुरुं नाभिवन्दति।
श्वानयोनिशतं भुक्त्वा चाण्डालेष्वभिजायते॥**

एक अक्षर का भी ज्ञान देने वाले गुरु को जो व्यक्ति प्रणाम नहीं करता, वह कुत्ते की योनि में सौ बार जन्म लेने के बाद भी नीच योनियों में जन्म लेता है।

चाणक्य कहते हैं कि सभी शिष्यों का कर्त्तव्य है कि वह अपने गुरु का सम्मान करें, भले ही उसने बहुत थोड़ा ज्ञान शिष्य को दिया हो।

**115. यथा धेनुसहस्त्रेषु वत्सो गच्छति मातरम्।
तथा यच्च कृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति॥**

जैसे हजारों गायों के मध्य में खड़ा बछड़ा केवल अपनी माँ के ही पास जाता है, उसी प्रकार कर्त्ता के द्वारा जो कर्म किया जाता है, वह करने वाले के पीछे-पीछे चलता है।

चाणक्य कहते हैं कि मनुष्य जैसा कर्म करता है, उसी के अनुरूप उसे फल प्राप्त होता है।

**116. अनवस्थितकार्यस्य न जने न वने सुखम्।
जने दहति संसर्गो वने सङ्गविवर्जनम्॥**

अव्यवस्थित काम करने वाले को न तो समाज में, न ही जंगल में सुख मिलता है। समाज में मनुष्यों का संसर्ग उसे दुःखी करता है, जबकि जंगल में उसे अकेलापन खलता है।

**117. जले तैलं खले गुह्यं पात्रे दानं मनागपि।
प्राज्ञे शास्त्रं स्वयं याति विस्तारं वस्तुशक्तितः॥**

जल में तेल, दुष्ट व्यक्तियों में गुप्त बात, योग्य व्यक्ति को दिया गया दान, बुद्धिमान का शास्त्रज्ञान-अपनी शक्ति से स्वयं इनका विस्तार हो जाता है।

**118. धर्माऽऽख्याने श्मशाने च रोगिणां या मतिर्भवेत्।
सा सर्वदैव तिष्ठेच्चेत् को न मुच्येत बन्धनात्॥**

धार्मिक कथा सुनने पर, श्मशान भूमि में और रोगी होने पर मनुष्य के मन में जिस प्रकार वैराग्यभाव उत्पन्न होता है, यदि वह सदैव स्थिर रहे तो मनुष्य संसार के बंधनों से मुक्त हो सकता है।

चाणक्य के अनुसार जब मनुष्य धर्म सभा से उठ जाता है, श्मशान भूमि से लौट आता है और रोग से मुक्त हो जाता है तो वह फिर से संसार के उसी मोह-मायाजाल में फँस जाता है।

यानि उसका क्षणिक आवेग शान्त हो जाता है।

119. उत्पन्नपश्चात्तापस्य बुद्धिर्भवति यादृशी।
तादृशी यदि पूर्वं स्यात् कस्य न स्यान्महोदयः॥

पाप करने के बाद पश्चात्ताप करने वाले मनुष्य की बुद्धि जिस प्रकार की होती है, यदि वैसी सोच पाप करने से पहले हो जाए तो भला किसे मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती?

चाणक्य कहते हैं कि पाप करने के बाद पश्चात्ताप (पछतावा) करने से अच्छा है पाप करने के पूर्व ही विचारकर उस काम को न किया जाए।

120. पृथिव्यां त्रीणि रत्नानि जलमन्नं सुभाषितम्।
मूढैः पाषाणखण्डेषु रत्नसंज्ञा विधीयते॥

इस पृथ्वी पर तीन ही रत्न हैं—जल, अन्न और मधुर वचन। परन्तु मूर्ख लोग पत्थर के टुकड़े को ही रत्न मानते हैं।

चाणक्य कहते हैं कि जल और अन्न के अलावा जीवन में सम्मान प्राप्त करने के लिए मधुर वचन बोलना आवश्यक है।

121. आत्माऽपराधवृक्षस्य फलान्येतानि देहिनाम्।
दारिद्र्यरोगदुःखानि बन्धनव्यसनानि च॥

दरिद्रता, रोग, दुःख और बंधन (मोह-माया) तथा व्यसन आदि—ये सब मनुष्य के अधर्म रूपी वृक्ष अर्थात् शरीर के फल हैं।

चाणक्य के अनुसार अधार्मिक कार्य करने से मनुष्य को अपने जीवन में उपर्युक्त दुःखों को सहना पड़ता है।

122. पुनर्वित्तं पुनर्मित्रं पुनर्भार्या पुनर्मही।
एतत्सर्वं पुनर्लभ्यं न शरीरं पुनः पुनः॥

धन, मित्र, पत्नी और राज्य (जमीन) को दोबारा प्राप्त किया जा सकता है। ये सब चीजें मनुष्य को बार-बार प्राप्त हो सकती हैं, परन्तु मनुष्य का शरीर बार-बार प्राप्त नहीं हो सकता।

इस श्लोक में चाणक्य ने मानव जीवन को सबसे महत्वपूर्ण बताया है।

123. स जीवति गुणा यस्य यस्य धर्मः स जीवति।
गुणधर्मविहीनस्य जीवितं निष्प्रयोजनम्॥

वास्तव में वही जीवित कहे जाने योग्य है, जिसमें गुण और धर्म उपस्थित रहता है। गुणों और धर्म से हीन मनुष्य का जीवन व्यर्थ है।

उसी व्यक्ति का जीवन सार्थक कहा जा सकता है, जो सद्गुणी और धार्मिक है। अधर्मी और गुणहीन व्यक्ति के जीवन की कोई उपयोगिता नहीं होती।

124. यदीच्छसि वशीकर्तुं जगदेकेन कर्मणा।
परापवादसस्येभ्यो गां चरन्तीं निवारय॥

यदि किसी एक ही कर्म से सारे संसार को अपने वश में करना चाहते हो तो दूसरों की निन्दा करने वाली अपनी वाणी को वश में करना आवश्यक है।

चाणक्य का कहना है कि यदि हम दूसरों की निन्दा करना छोड़ दें, तो सारा संसार हमारा अपना हो सकता है।

125. प्रस्तावसदृशं वाक्यं प्रभावसदृशं प्रियम्।
आत्मशक्तिसमं कोपं यो जानाति स पण्डितः॥

जो व्यक्ति अवसर के अनुकूल बात कर सकता है, जो व्यक्ति अपने यश के अनुकूल प्रिय कार्य कर सकता है और जो अपनी शक्ति के अनुसार क्रोध करता है, वास्तव में वही विद्वान् है।

चाणक्य कहते हैं कि व्यक्ति को अवसर के अनुकूल ही बातें करनी चाहिए। जो व्यक्ति ऐसा नहीं करता, वह मूर्ख है। समझदार व्यक्ति स्थिति के अनुरूप ही व्यवहार करता है, अपनी शक्ति के अनुसार क्रोध करता है।

126. एक एव पदार्थस्तु त्रिधा भवति वीक्षितः।
कुणपः कामिनी मांसं योगिभिः कामिभिः श्वभिः॥

एक ही पदार्थ को देखने वाले लोग तीन प्रकार से देख सकते हैं। स्त्री को योगी शव के रूप में देखते हैं, कामी लोग कामिनी के रूप में और कुत्ता उसे एक मांस के लोथड़े के रूप में देखता है।

127. यस्य चित्तं द्रवीभूतं कृपया सर्वजन्तुषु।
तस्य ज्ञानेन मोक्षेण किं जटाभस्मलेपनैः॥

जिसका हृदय सभी जीवों पर दया करने के लिए द्रवित हो जाता है, उसे ज्ञान, मोक्ष, जटाधारण और शरीर पर भस्म लगाने की क्या आवश्यकता है?

चाणक्य ने मनुष्य के मन में उपस्थित दया-भाव को सभी धर्मों और कर्मकाण्डों से महत्वपूर्ण माना है।

128. एकमेवाक्षरं यस्तु गुरुः शिष्यं प्रबोधयेत्।
पृथिव्यां नास्ति तद्द्रव्यं यद्दत्वा चाऽनृणी भवेत्॥

जो गुरु अपने शिष्य को एक भी अक्षर का ज्ञान दे देता है, संसार में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जिसे गुरु को देकर शिष्य उस गुरु के ऋण से मुक्त हो सके।

एक अक्षर का इस श्लोक में अर्थ ओ३म् से भी है। जो परम ज्ञान का मूल बिन्दु माना जाता है।

129. सुसिद्धमौषधं धर्मं गृहच्छिद्रं च मैथुनम्।
कुभुक्तं कुश्रुतं चैव मतिमान्न प्रकाशयेत्॥

बुद्धिमान व्यक्ति को सिद्ध की हुई दवा को, स्वयं किए जाने वाले धर्माचरण को, घर के दोष को, स्त्री के साथ संभोग की बात को, बे-स्वाद भोजन तथा निन्दित वचन, किसी के सामने प्रकट नहीं करना चाहिए।

130. तावन्मौनेन नीयन्ते कोकिलैश्चैव वासराः।
यावत्सर्वजनानन्ददायिनी वाक्प्रवर्तते॥

जब तक वसन्त ऋतु नहीं आती, तब तक कोयल मौन रहकर अपने दिन बिता देती है, अर्थात् वसन्त ऋतु आने पर ही कोयल की मधुर कूक सुनाई देती है।

इसका भावार्थ यह है कि मनुष्य को धैर्य से प्रतीक्षा करते हुए अनुकूल समय आने पर ही अपनी बात कहनी चाहिए। तभी वह महत्वपूर्ण माना जाता है।

131. पठन्ति चतुरो वेदान् धर्मशास्त्राण्यनेकशः।
आत्मानं नैव जानन्ति दर्वी पाकरसं यथा॥

जो लोग वेद शास्त्रों का अध्ययन करने के बाद भी आत्मज्ञान से रहित होते हैं, वे उस कलछी जैसे होते हैं, जो स्वादिष्ट व्यंजनों में रहती है, परन्तु उसे स्वाद का ज्ञान नहीं होता।

चाणक्य के अनुसार अर्जित ज्ञान को जीवन में उतारना आवश्यक है। यदि मनुष्य ऐसा नहीं करता तो उसका जीवन व्यर्थ होता है।

132. अन्यायोपार्जितं द्रव्यं दशवर्षाणि तिष्ठति।
प्राप्ते चैकादशे वर्षे समूलं तद् विनश्यति॥

गलत तरह से कमाया हुआ धन मात्र दस वर्ष तक आदमी के पास ठरहता है और ग्यारहवां वर्ष प्रारम्भ होते ही वह धन समूल नष्ट हो जाता है।

इस श्लोक में चाणक्य ने अनुचित विधि से कमाए गए धन की परिणति को स्पष्ट किया है।

133. छिन्नोऽपि चन्दनतरुर्न जहाति गन्धं
वृद्धोऽपि वारणपतिर्न जहाति लीलाम्।
यन्त्रार्पितो मधुरतां न जहाति चेक्षुः
क्षीणोऽपि न त्यजति शीलगुणान् कुलीनः॥

कटा हुआ चन्दन का वृक्ष अपनी सुगन्ध नहीं छोड़ता, बूढ़ा हो जाने पर भी हाथी अपनी क्रीड़ाएँ नहीं छोड़ता, कोल्हू से पेरने के बाद भी ईख अपनी मिठास नहीं छोड़ती। इसी प्रकार कुलीन मनुष्य निर्धन हो जाने पर भी अपनी सुशीलता, शालीनता को नहीं छोड़ता।

कहने का अशय है कि परिस्थितियाँ प्रतिकूल होने पर भी सज्जन व्यक्ति अपनी सज्जनता का त्याग नहीं करते हैं।

134. न निर्मितः केन न दृष्टपूर्वः न श्रूयते हेममयः कुरङ्गः।
तथाऽपि तृष्णा रघुनन्दनस्य विनाशकाले विपरीतबुद्धि॥

न तो सोने के मृग की रचना ईश्वर ने की और न ही किसी ने सोने का मृग देखा। फिर भी भगवान् श्री रामचन्द्र स्वर्ण-मृग को पकड़ने के लिए दौड़ पड़े अर्थात् जब मनुष्य के बुरे दिन आते हैं, तो उसकी बुद्धि विपरीत बातें सोचने लगती है।

इस श्लोक में चाणक्य ने विनाश काले विपरीत बुद्धि को स्पष्ट किया है।

135. गुणैरुत्तमतां याति नौच्चैरासनसंस्थिताः।
प्रासादशिखरस्थोऽपि काकः किं गरुडायते॥

मनुष्य अपने उत्कृष्ट गुणों के कारण ही श्रेष्ठता को प्राप्त होता है। मात्र ऊँचे स्थान पर बैठने से श्रेष्ठ नहीं बना जा सकता। राजभवन की ऊँची चोटी पर बैठने से ही कौआ गरुड़ नहीं बन सकता।

136. गुणाः सर्वत्र पूज्यन्ते न महत्योऽपि सम्पदः।
पूर्णेन्दु किं तथा वन्द्यो निष्कलङ्को यथा कृशः॥

अच्छे गुणों की सभी जगह पूजा होती है। गुणहीन मनुष्य के पास यदि धन के भण्डार भी हों तो भी उसे आदर-सम्मान प्राप्त नहीं होता। बहुत थोड़े से प्रकाश वाला, दाग-धब्बों से रहित दूज के चाँद को जिस प्रकार पूजा जाता है, क्या पूर्णिमा के चन्द्रमा को वैसा सम्मान प्राप्त होता है।

137. पर-प्रोक्तगुणो यस्तु निर्गुणोऽपि गुणी भवेत्।
इन्द्रोऽपि लघुतां याति स्वयं प्रख्यापितैर्गुणैः॥

जिसके गुणों की तारीफ दूसरे लोग करते हैं, वह गुणहीन होने पर भी गुणी मान लिया जाता है, परन्तु जो स्वयं अपने मुख से अपनी प्रशंसा करता है तो ऐसे इन्द्र को भी छोटा माना जाता है।

138. विवेकिनमनुप्राप्ता गुणा यान्ति मनोज्ञताम्।
सुतरां रत्नमाभाति चामीकरनियोजितम्॥

जो व्यक्ति विवेकशील होने के साथ अच्छे विचार भी रखता है, वह रत्नजड़ित सोने के आभूषण के समान सम्मान पाता है।

139. अतिक्लेशेन ये चार्था धर्मस्यातिक्रमेण तु।
शत्रूणां प्रणिपातेन ते ह्यर्था मा भवन्तु मे॥

जो धन दूसरों को कष्ट पहुँचाकर, धर्म विरुद्ध कार्य करके, शत्रु के सामने झुकने से प्राप्त होता है, ऐसा धन मुझे नहीं चाहिए।

चाणक्य का कहना है कि आत्मसम्मान को नष्ट करने वाले धन की अपेक्षा धन का न होना अच्छा है।

140. क्षीयन्ते सर्वदानानि यज्ञहोमबलिक्रियाः।
न क्षीयते पात्रदानमभयं सर्वदेहिनाम्॥

जीवन समाप्ति के साथ ही सभी प्रकार के दान, यज्ञ, होम समाप्त हो जाते हैं, किन्तु श्रेष्ठ सुपात्र को दिया गया दान और अभयदान कभी नष्ट नहीं होता।

141. पुस्तकेषु च या विद्या परहस्तेषु यद्धनम्।
उत्पन्नेषु च कार्येषु न सा विद्या न तद्धनम्॥

जो विद्या पुस्तकों में लिखी है, पर आचरण में नहीं है। जो धन दूसरों के पास है, आवश्यकता पड़ने पर न तो वह विद्या काम आती है और न ही वह धन।

कहने का आशय यह है कि आवश्यकता पड़ने पर काम आने वाली विद्या और धन ही सार्थक होता है।

142. प्रियवाक्यप्रदानेन सर्वे तुष्यन्ति जन्तवः।
तस्मात्तदेव वक्तव्यं वचने का दरिद्रता॥

मधुर वचन से सभी प्राणी प्रसन्न और संतुष्ट रहते हैं। अतः व्यक्ति को सदैव मीठा ही बोलना चाहिए, मनुष्य को वाणी से दरिद्र नहीं होना चाहिए।

चाणक्य कहते हैं कि मृदुभाषी व्यक्ति सभी को प्रिय होते हैं। मधुर भाषण में सम्मोहन शक्ति होती है।

143. संसारविषवृक्षस्य द्वे फले अमृतोपमे।
सुभाषितं च सुस्वादु सङ्गतिः सुजने जने॥

इस संसाररूपी विष-वृक्ष पर दो फल ही अमृत जैसे मीठे होते हैं, एक मधुर वाणी और दूसरी सज्जनों की संगति।

चाणक्य के अनुसार मधुर वचन और सत्संगति से व्यक्ति का कल्याण हो जाता है।

144. दानेन पाणिर्न तु कङ्कणेन स्नानेन शुद्धिर्न तु चन्दनेन।
मानेन तृप्तिर्न तु भोजनेन ज्ञानेन मुक्तिर्न तु मण्डनेन॥

हाथ की शोभा कंगन या आभूषण पहनने से नहीं वरन् दान देने से होती है, शरीर की शुद्धि स्नान करने से होती है, चंदन लगाने से नहीं। श्रेष्ठ मनुष्य की तृप्ति आदर-सम्मान से होती है, भोजन कराने से नहीं और मनुष्य को मोक्ष ज्ञान से होता है, श्रृंगार करने से नहीं।

145. लोभश्चेदगुणेन किं पिशुनता यद्यस्ति किं पातकैः
सत्यं चेत्तपसा च किं शुचि मनो यद्यस्ति तीर्थेन किम्।
सौजन्यं यदि किं गुणैः सुमहिमा यद्यस्ति किं मण्डनैः
सद्विद्या यदि किं धनैरपयशो यद्यस्ति किं मृत्युना॥

यदि मनुष्य लोभी है तो उसे किसी अन्य बुराई की आवश्यकता नहीं, यदि व्यक्ति परनिन्दक है, तो इससे बड़ा पाप क्या हो सकता है? यदि किसी के जीवन में सत्याचरण है तो उसे तप करने की क्या आवश्यकता है, यदि मनुष्य का मन पवित्र है तो विभिन्न तीर्थों पर जाने से क्या लाभ? यदि मनुष्य प्रेमी स्वभाव का है तो उसे अन्य गुणों की क्या आवश्यकता है? यदि संसार में मनुष्य का यश फैल रहा है तो उसे अन्य किसी आभूषण की क्या आवश्यकता है? यदि उसके पास विद्या है तो उसे किसी अन्य धन की क्या आवश्यकता है? और यदि उसका अपमान और अपयश फैल रहा है तो वह जीते हुए भी मरे के समान हो जाता है।

146. आहारनिद्राभयमैथुनंच सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मोहितेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

भोजन, नींद, भय और संतान की उत्पत्ति (संभोग) करना—ये सब मनुष्य और पशु में एक समान होती हैं। पशुओं की अपेक्षा मनुष्य में ज्ञान अधिक होता है, अर्थात् ज्ञानहीन मनुष्य पशु के ही समान होता है।

147. राजा वेश्या यमो ह्यग्निस्तस्करो बालयाचकौ।
परदुःखं न जानन्ति अष्टमो ग्रामकण्टकः॥

राजा, वेश्या, यमराज, अग्नि, चोर, बालक, भिखारी और ग्रामीणों को सताने वाले ये आठों बड़े ही कठोर स्वभाव के होते हैं। ये दूसरों के कष्टों को नहीं समझते। ये सभी कर वसूलने वालों की तरह निर्दयी होते हैं।

148. अधः पश्यसि किं वृद्धे पतितं तव किं भुवि।
रे रे मूर्ख न जानासि गतं तारुण्यमौक्तिकम्॥

किसी बूढ़ी स्त्री को देखकर कोई युवक उससे व्यंग्य करते हुए पूछता है—हे वृद्धे! नीचे क्या ढूंढ़ रही हो, क्या पृथ्वी पर तुम्हारी कोई चीज गिर पड़ी है? वह बूढ़ी औरत कहती है कि अरे मूर्ख! तू नहीं जानता कि मेरा यौवनरूपी मोती खो गया है, मैं उसी को ढूँढ़ रही हूँ।

149. व्यालाश्रयाऽपि विफलापि सकण्टकाऽपि
वक्राऽपि पङ्किल-भवाऽपि दुरासदाऽपि।
गन्धेन बन्धुरसि केतकि सर्वजन्तोर्
एको गुणः खलु निहन्ति समस्तदोषान्॥

हे केतकी! (केवड़ा) यद्यपि तुझसे सांप लिपटे रहते हैं, तुझ पर फल भी नहीं लगते, कांटे भी होते हैं, टेढ़ी भी है, इसके अतिरिक्त तेरा जन्म कीचड़ में होता है और तू सरलता से प्राप्त भी नहीं होती। फिर भी तेरे में जो सुगन्ध है, वह सब प्राणियों को मोहित कर लेती है।

चाणक्य कहते हैं कि व्यक्ति में यदि एक भी श्रेष्ठ गुण हो तो सारे दोष छुप जाते हैं।

विदुर नीतिः

[प्रमुख श्लोक एवं उनकी व्याख्या]

1. **द्वाःस्थं प्राह महाप्राज्ञो धृतराष्ट्रो महीपतिः।**
   विदुरं द्रष्टुमिच्छामि तमिहानय मा चिरम्॥

महाराज घृतराष्ट्र ने द्वारपाल से कहा कि मैं महात्मा विदुर को देखना चाहता हूँ अर्थात् मिलना चाहता हूँ, उसे यहाँ ले आओ, विलम्ब मत करो।

विषय–विदुर शब्द 'विद ज्ञाने' धातु से 'कुरच्' प्रत्यय (अष्टा० ३/२/१६२) होकर बना है। इसका मूल अर्थ है–'जानने वाला' अर्थात् ज्ञानी। विदुर का महाप्राज्ञत्व महाभारत में प्रसिद्ध है।।१।।

2. **यस्य कृत्यं न जानन्ति मन्त्रं वा मन्त्रितं परे।**
   कृतमेवास्य जानन्ति स वै पण्डित उच्यते॥

जिस व्यक्ति के भविष्य में करने योग्य कर्म को, विचार को और निश्चय किये गये तत्व को शत्रु लोग नहीं जानते, केवल किये गये कर्म को ही जानते हैं, वही पण्डित कहलाता है।

यद्यपि यह नियम साधारण रीति से सभी व्यक्तियों के लिये लाभकारी है तथापि राजनीति में तो परम आवश्यक है। राजा और राज्यकर्मचारियों को इतना गूढ़ रहना चाहिये कि शत्रु के गुप्तचर उनके हाव-भाव चेष्टा आदि से भी उनके विचार अथवा भविष्य में किये जाने वाले कर्मों को न जान सकें। जो राजा वा जिस राज्य के कर्मचारी ऐसे गूढ़ व्यक्ति नहीं होते हैं, वह राजा अथवा राज्य नष्ट हो जाता है।।२३।।

3. **क्षिप्रं विजानाति चिरं शृणोति विज्ञाय चार्थं भजते न कामात्।**
   नासंपृष्टो व्युपयुङ्क्ते परार्थे तत् प्रज्ञानं प्रथमं पण्डितस्य॥

जो व्यक्ति शीघ्र संकेतमात्र से जान लेता है, दूसरे की बात [धैर्य-पूर्वक] चिरकाल तक सुनता है, और अर्थ की कामना से उनका सेवन नहीं करता, यही पण्डित का मुख्य चिह्न है।।२७।।

(इस श्लोक में **'ह्युपयुङ्क्ते'** पाठ भी मिलता है। दोनों का अर्थ समान है।)

4. **अश्रुतश्च समुन्नद्धो दरिद्रश्च महामनाः।**
   अर्थांश्चाकर्मणा प्रेप्सुर्मूढ इत्युच्यते बुधैः॥

जो व्यक्ति ज्ञानरहित होकर भी उद्धत (उद्दण्ड) है, दरिद्र (धन-रहित) होकर भी बड़ी-बड़ी अभिलाषाएँ करता है, ओर बिना कर्म किये अथवा अनुचित [द्यूतादि] कर्मों से ऐश्वर्य को प्राप्त करना चाहता है, वह मूर्ख है, ऐसा पण्डितों द्वारा कहा जाता है अर्थात् पण्डितजन उसे मूर्ख कहते हैं।।३५।।

5. **अमित्रं कुरुते मित्रं मित्रं द्वेष्टि हिनस्ति च।**
   कर्म चारभते दुष्टं तमाहुर्मूढचेतसम्॥

जो व्यक्ति अमित्र अर्थात् मित्र बनने के अयोग्य को मित्र बनाता है। और मित्र बनाने योग्य से द्वेष करता है तथा उनका नाश करता है और दुष्ट कर्म करता है, उसे मूर्ख कहते हैं।

6. **संसारयति कृत्यानि सर्वत्र विचिकित्सते।**
चिरं करोति क्षिप्रार्थे स मूढो भरतर्षभ॥

हे भरत कुल में श्रेष्ठ! जो कार्यों को फैलाता है, अर्थात् स्वयं न करके भृत्यों के द्वारा करवाता है, सबके प्रति संदेह करता है और शीघ्र करने योग्य कार्यों में विलम्ब करता है वह मूर्ख कहलाता है।।३९।।

7. **अनाहूतः प्रविशति अपृष्टो बहु भाषते।**
अविश्वस्ते विश्वसिति मूढचेता नराधमः॥

जो पुरुष सभा आदि में बिना बुलाए प्रविष्ट होता है और बिना पूछे बहुत बोलता है तथा विश्वास के अयोग्य पुरुषों में विश्वास करता है, वह मूर्ख चित्तवाला नरों में अधम है।।४१।।

8. **एकः पापानि कुरुते फलं भुङ्क्ते महाजनः।**
भोक्तारो विप्रमुच्यन्ते कर्त्ता दोषेण लिप्यते॥

(राष्ट्र का नायक) अकेला भी जो पाप (अनिष्ट कार्य) करता है उसका फल राष्ट्र भोगता है। भोगने वाले तो मुक्त हो जाते हैं, परन्तु वह कर्त्ता पाप से लिप्त हो जाता है अर्थात् चिरकाल तक राष्ट्र उसको राष्ट्रद्रोही के रूप में स्मरण करता रहता है।।४७।।

9. **एकं विषरसो हन्ति शस्त्रेणैकश्च वध्यते।**
सराष्ट्रं सप्रजं हन्ति राजानं मन्त्रविप्लवः॥

विष एक को ही मारता है जो उसे पीता है, शस्त्र से भी एक ही व्यक्ति मारा जाता है, परन्तु मन्त्र=(गुप्त विचार रणनीति या गोपनीयता) का (कार्य से पहले ही) प्रकट हो जाना राष्ट्र और प्रजा सहित राजा को नष्ट कर देता है।।८३।।

विशेष–इस विषय में १/२३ श्लोक की व्याख्या भी देखें।।५०।।

10. **सोऽस्य दोषो न मन्तव्यः क्षमा हि परमं बलम्।**
क्षमा गुणो ह्यशक्तानां शक्तानां भूषण क्षमा॥

क्षमा को दोष नहीं मानना चाहिये, निश्चय ही क्षमा परम बल है। निर्बल मनुष्यों का क्षमा गुण है और बलवानों का क्षमा भूषण है।।५४।।

11. **द्वाविमौ ग्रसते भूमिः सर्पो बिलशयानिव।**
राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम्॥

जो राजा शत्रु का (गलत लोगों का) विरोध नहीं करता अर्थात् निर्बल है और जो ब्राह्मण अर्थात् संन्यासी यात्रा=भ्रमण नहीं करता, उसको भूमि उसी प्रकार निगल लेती है (उनका यज्ञ उसी प्रकार नष्ट हो जाता है) जैसे चूहों को सर्प निगल लेता है, खा जाता है, नष्ट कर देता है।

विषय–जो राजा अपने शत्रु के साथ लोहा नहीं लेता, उससे युद्ध नहीं करता, उसको शत्रु निगल जाते हैं उसे नष्ट कर देते हैं उसके राज्य पर अधिकार जमा लेते है। इसी प्रकार जो ब्राह्मण अर्थात् संन्यासी भ्रमण नहीं करता एक ही स्थान पर जमा रहता हैं, वह अपने कर्म से तो च्युत होता ही है साथ में एक स्थान पर रहने से राग मोह के वशीभूत होकर ब्राह्मणत्व से हीन हो जाता है। इन्हीं को श्लोक में मुहावरे के रूप में भूमि द्वारा निगलना कहा है।।५८।।

12. **त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।**
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥

काम, क्रोध और लोभ ये तीन प्रकार के नरक (दुःख) के द्वार (मार्ग) है और आत्मा का नाश करने वाले हैं, इसलिये इन तीनों को छोड़ देना चाहिये।

विशेष—परधन का हरण, परस्त्री का स्पर्श और मित्रों का त्यागरूप बताये गये तीनों दोष क्रमशः इन्हीं लोभ, काम और क्रोध से उत्पन्न होते हैं।।७१।।

13. **चत्वारि ते तात गृहे वसन्तु श्रियाभिजुष्टस्य गृहस्थधर्मे।**
वृद्धो ज्ञातिरवसन्नः कुलीनः सखा दरिद्रो भगिनी चानपत्या॥

हे ज्येष्ठ भ्रातः! गृहस्थधर्म में वर्तमान धानवान्य से परिपूर्ण तुम्हारे घर में चार अवश्य रहें—एक अपना सम्बन्धी कोई वृद्ध पुरुष, दूसरा दुःखी कुलीन पुरुष, तीसरा दरिद्र सखा (मित्र) और चौथा पुत्र रहित बहिन।

विशेष—वृद्ध पुरुष कुल के आचार का उपदेश करता है, कुलीन बालकों को सदाचार ग्रहण कराता है, मित्र हित का कथन करता है और पुत्ररहित भगिनी धन धान्यादि की रक्षा करती है। तुम्हारे घर में ये चारों प्रकार के व्यक्ति तो विद्यमान हैं, परन्तु तुम उपदेश को ग्रहण नहीं करते यह भाव इस श्लोक में संकेतित है।।७५।।

14. **पञ्चाग्नयो मनुष्येण परिचर्याः प्रयत्नतः।**
पिता मातागिनरात्मा च गुरुश्च भरतर्षभ॥

हे भरत श्रेष्ठ ! मनुष्य को चाहिये कि पिता, माता, गुरु, आत्मा और अग्नि इन पांच अग्नियों का प्रयत्नपूर्वक सेवन करे।

विशेष—आत्मा शब्द से यहां अपना आत्मा तथा अतिथि आदि आत्मा का ग्रहण जानना चाहिये। अग्नि शब्द से परमात्मा और भौतिक अग्नि का ग्रहण है। परमात्मा की परिचर्या अष्टांग योग के द्वारा और भौतिक अग्नि का सेवन अग्निहोत्रादि के द्वारा अभीष्ट है। अग्नि शब्द से ईश्वर का भी ग्रहण होता है इसके लिये देखिये वेदान्त शास्त्र १/२/१८— **अग्निशब्दोऽप्यग्रणीवादि- योगाश्रयेण परमात्मविषय एव भविष्यति**।।७५।।

15. **पञ्च त्वानुगमिष्यन्ति यत्र यत्र गमिष्यसि।**
मित्राण्यमित्रा मध्यस्था उपजीव्योपजीविनः॥

हे राजन् ! तुम जहां भी जाओगे—पाँच तुम्हारे साथ अवश्य रहेंगे। वे पाँच हैं—मित्र, शत्रु, उदासीन, उपजीव्य=गुरु आदि वृद्ध पुरुष ओर उपजीवी=भृत्य आदि।

विशेष—भर्तृहरि ने कहा है— **मुनेरपि वनस्थस्य स्वानि कर्माणि कुर्वतः। उत्पद्यन्ते त्रयः पक्षा मित्रोदासीनशत्रवः॥**

अर्थात् वन में एकान्त स्थान में निर्लिप्त रहकर अपने योगाभ्यासादि कर्मों को करते हुए मुनि लोगों के भी मित्र उदासीन और शत्रु ये तीन पक्ष स्वभावतः उतपन्न हो जाते हैं।।८१।।

16. **षड् दोषा पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता।**
निद्रा तन्द्रा भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता॥

कल्याण अथवा उन्नति चाहने वाले मनुष्य को निद्रा, तन्द्रा, भय, क्रोध आलस्य और प्रमाद ये छः दोष त्याग देने चाहिये।

विशेष–क्रोध से यहाँ क्रोधमूलक द्वेष का ग्रहण करना चाहिए। तेरे पुत्र में पाण्डवों के प्रति द्वेष है, उससे वह नष्ट हो जाएगा यह संकेत किया है।

17. षडिमान् पुरुषो जह्याद् भिन्नां नावमिवार्णवे।
अप्रवक्तारमाचार्यमनधीयानमृत्विजम्॥
अरक्षितारं राजानं भार्यां चाप्रियवादिनीम्।
ग्रामकामं च गोपालं वनकामं च नापितम्॥

जैसे समुद्र मे टूटी नौका को छोड़ दिया जाता है उसी प्रकार आगे कहे गये छः व्यक्तियों को छोड़ देवे–१. न पढ़ाने वाले गुरु को, २. न पढ़ने वाले (स्वाध्याय न करने वाले) ऋत्विक् को, ३. रक्षा न करने वाले राजा को, ४. अप्रिय बोलने वाली पत्नी को, ५. ग्राम की इच्छा रखने वाले गोपाल (चरवाहे) को, और ६. वन की इच्छा करने वाले नाई को।

विशेष–पाण्डवों की रक्षा न करने वाले तुम राजा अन्यों के द्वारा भी त्याज्य हो जाओगे यह भाव यहां व्यक्त किया है ॥८५॥

18. अर्थागमो नित्यमरोगिता च प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च।
वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन्॥

हे राजन्! इस जीवलोक (संसार) के छः सुख हैं–१. धन की प्राप्ति, २. सदा स्वस्थ रहना, ३. प्रिय भार्या, ४. प्रिय बोलने वाली भार्या, ५. वश में रहने वाले पुत्र और ६. मनोरथ पूर्ण कराने वाली विद्या। अर्थात् इन ६. से संसार में सुख उपलब्ध होता है।॥८७॥

19. षडिमे षट्सु जीवन्ति सप्तमो नोपलभ्यते।
चौराः प्रमत्ते जीवन्ति व्याधितेषु चिकित्सकाः॥
प्रमदाः कामयानेषु यजमानेषु याजकाः।
राजा विवदमानेषु नित्यं मूर्खेषु पण्डिताः॥

छः प्रकार के पुरुष छः प्रकार के पुरुषों के आश्रय पर ही जीवनयापन करते हैं सातवां ऐसा नहीं मिलता जो किसी अन्य के आश्रय पर जीवन बिताता हो। चोर लोग प्रमादी पुरुष के आश्रय पर ही जीते हैं, प्रमाद न करें तो चोरों को चोरी करने का अवसर न मिले। रोगियों के आश्रय पर वैद्य आदि जीते हैं, यदि लोग स्वस्थ रहें तो चिकित्सक का जीवनयापन कठिन हो जाये। स्त्रियाँ कामीपुरुषों के आश्रय पर जीती हैं, यदि पुरुष जितेन्द्रिय हो तो दुराचारिणी स्त्रियों की जीविका ही न रहे। यज्ञ करने वालों के आश्रय पर याजक ऋत्विक् लोग जीवन बिताते हैं, यदि यज्ञक्रिया का लोप हो जावे तो ऋत्विक् भी न रहें। राजा प्रजा में लड़ाई बखेड़ा होने पर ही जीवन धारण करता है, यदि मनुष्यों में सदा सौमनस्य हो, किसी प्रकार का विवाद ही पैदा न हो तो राजा की भी आवश्यकता न रहे और मूर्खों के आश्रय विद्वान् जीते है। यदि सभी मूर्ख बुद्धिमान् बन जायें तो विद्वान् की पूछ ही न हो।

विशेष–इस प्रकरण में **यजुमानेषु याजकाः** का निर्देश करने से प्रतीत होता है कि भारत युद्ध के काल में ऋत्विक कर्म को जो पुराकाल में श्रेष्ठतम कार्य माना गया था, हीनदृष्टि से देखा जाने लगा था। सम्भव है उस समय कुछ ऐसे ऋत्विक उत्पन्न हो गये हों जो अयाज्य (जिनको यज्ञ न कराना चाहिये) व्यक्तियों को धन के लोभ से यज्ञ कराने लग गये हों। इसी प्रकार यहाँ चिकित्सकों की जो निन्दा की है वह भी लोभी चिकित्सकों की है, सात्विक भाव से परोपकार्थ चिकित्सा करने वालों की नहीं है। महाभारत आदि ग्रन्थों से ज्ञात होता हैं कि आदिकाल में सब प्रजाएं अपने-अपने धर्म के अनुकूल वर्तती थीं उस समय कोई राजा न था, किन्तु जब प्रजाओं में लोभ की मात्रा बढ़ने लगी, लोग एक-दूसरे का धन अपहरण करने लगे तब लोकावस्था की रक्षा के लिए राजा की नियुक्ति की गई।

९०वें श्लोक में पठित **कामयानेषु** पद के लिए पूर्व अ० १ श्लोक ७ पठित **चिन्तयानम्** पद विषयक निर्देश देखें। साधारणतया **कामयानेषु** प्रयोग साधु माना जाता है।।८९, ९०।।

20. षडिमानि विनश्यन्ति मुहूर्त्तमनवेक्षणात्।
गावः सेवा कृषिर्भार्या विद्या वृषलसंगतिः।।

गौवें, सेवा, भृत्यों पर आश्रित कार्य खेती, स्त्री, विद्या और नीच पुरुष की संगति ये छः थोड़ी देर भी ध्यान न देने से नष्ट हो जाती हैं।

विशेष–भार्या का निर्देश यहां सामान्य रूप से किया है। पतिव्रता स्त्रियां चिरकाल तक पति से वियुक्त होने पर भी अपने पथ से विचलित नहीं होती। नीच पुरुष की संगति मित्रता तो होती ही अस्थायी है। विद्या की भी यदि पुनरावृत्ति न की तो वह भी नष्ट हो जाती है। ऐसी ही अवस्था गायों, सेवा और खेतों के सम्बन्ध में जाननी चाहिए।।९१।।

21. षडेते ह्यवमन्यन्ते नित्यं पूर्वोपकारिणम्।
आचार्यं शिक्षिताः शिष्याः कृतदाराश्च मातरम्।।
नारीं विमतकामास्तु कृतार्थाश्च प्रयोजकम्।
नावं निस्तीर्णकान्तारा आतुराश्च चिकित्सितम्।।

छः प्रकार के व्यक्ति प्रायः करके पूर्व उपकार करने वाले को सदा ही हीन दृष्टि से देखते हैं। आचार्य को पढ़े हुए शिष्य, माता को विवाहित पुत्र, पत्नी को जिसकी कामेच्छा नष्ट हो गई है वे पुरुष, कार्य में लगाने वाले को जिनका प्रयोजन सिद्ध हो गया है वे, नौका को जल से पार हुए लोग और चिकित्सा (स्वस्थ) करने वाले को आतुर (रोग से पीड़ित) स्वस्थ होकर।

विशेष–कान्तार शब्द वन अर्थ में प्रसिद्ध है, परन्तु यहां नौका का वर्णन हाने से कान्तार का अर्थ जलयुक्त नदी आदि ही समझना चाहिए। वन शब्द वैदिक भाषा में जल का वाचक भी है। कान्तार का पूर्व 'क' भी नौका पद की लक्षणा रथ आदि सवारी में करनी चाहिए।।९२, ९३।।

22. ईर्ष्यी घृणी नसन्तुष्टः क्रोधिनो नित्यशंकितः।
परभाग्योपजीवी च षडेते नित्यदुःखिताः।।

ईर्ष्या करने वाला, दूसरों से घृणा करने वाला, असन्तुष्ट, क्रोधी, शंकाशील और पराश्रित ये छः सदा दुःखी रहते हैं।

विशेष–सामान्यतया **नसन्तुष्टः** दो पद प्रतीत होते हैं परन्तु यहाँ पर नग नक आदि पदों के समान समास मानकर नकार लोप का प्रतिषेध समझना चाहिए।।९५।।

**23. नवद्वारमिदं वेश्म त्रिस्थूणं पञ्चसाक्षिकम्।
क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं विद्वान् यो वेद स परः कविः॥**

जो विद्वान् नवद्वार (दो आँख, दो नाक, दो कान, एक मुख, एक उपस्थेन्द्रिय, एक गुदा) इन नवद्वारों (छिद्रों) वाले, तीन स्थूणा (वात, पित्त, कफ आधार) वाले, पाँच साक्षियों (५ इन्द्रियाँ जिनसे सांसारिक विषयों का ग्रहण होता है) वाले क्षेत्रज्ञ जीवात्मा से अधिष्ठित धारण किए गये शरीर, रूपी गृह को अच्छे प्रकार जानता है वह श्रेष्ठ ज्ञानी अर्थात् ब्रह्मवित् है।

विशेष–शरीर को **नवद्वार** वाला अथर्व० १०/२/२१; श्वेता० उप० ३/१८; गीता ५/१३ में भी कहा है। कठोपनिषद् २/२/१ में इसे **एकादशद्वार** वाला कहा है। ११ द्वार पक्ष में वागिन्द्रिय को पृथक् गिना जाता है, और ११वां मस्तिष्क में ब्रह्मरन्ध्र हैं। श्री शंकराचार्य ने १०वां द्वार नाभि माना है। महाभारत के टीकाकार नीलकण्ठ ने ५ इन्द्रियाँ और ४ मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ये ९ द्वार माने हैं। नीलकण्ठ की व्याख्या अन्य सभी व्याख्याकारों से भिन्न होने से अप्रमाण है, ऐसा हमारा विचार है। त्रिस्थूणा की व्याख्या में नीलकण्ठ ने अविद्या, काम ओर कर्म को स्थूणा कहा है। इसी प्रकार पाँच साक्षियों में पाँच विषयों का ग्रहण किया है। **पञ्चसाक्षिकम्** के स्थान पर **पञ्चभौतिकम्** पाठ भी मिलता है यह अधिक स्पष्टार्थक है। टीकाकार ने इस पाठ को अर्वाचीन कहा है।

शरीर को यथातथ रूप में जानने वाले को अथर्व० १०/२/३२ में **ब्रह्मवित्** और मुण्डक उप० २/२/९ **आत्मवित्** कहा है॥१०५॥

**24. दश धर्मं न जानन्ति धृतराष्ट्र निबोध तान्।
मत्तः प्रमत्तः उन्मत्तः श्रान्तः क्रुद्धो बुभूक्षितः॥
त्वरमाणश्च लुब्धश्च भीतः कामी च ते दश।
तस्मादेतेषु सर्वेषु न प्रसज्जेत पण्डितः॥**

हे घृतराष्ट्र! दस प्रकार के लोग धर्म को नहीं जानते उन्हें तुम जानो। वे ये हैं– मद्यपान से मत्त, विषयासक्त मन वाला होने से प्रमत्त, उन्माद आदि रोग से युक्त उन्मत्त, थका हुआ, क्रोध से युक्त, भूखा, शीघ्रता करने वाला, लोभी, डरा हुआ और दसवां कामी। इसलिए पण्डित को चाहिए कि इनसे सम्पर्क न रखे।

विशेष–त्वरमाण ओर क्षिप्रकारी में अन्तर है। क्षिप्रकारी वह होता है जो किसी कार्य को ठीक ढंग से अल्प समय में कर लेता है और त्वरमाण कहते हैं जल्दबाज को जो कार्य के सम्बन्ध में पूर्वापर का विचार किये बिना ही कार्य में प्रवृत हो जाता है। इसलिए क्षिप्रकारित्व गुण माना जाता है और त्वरमाणत्व दोष॥१०६, १०७॥

**25. पुष्पं पुष्पं विचिन्वीत मूलच्छेदं न कारयेत्।
मालाकार इवारामे न यथाङ्गारकारकः॥**

जैसे माली (उद्यान-रक्षक) बगीचे में एक-एक फूल को ग्रहण करता है, मूल से उनका उच्छेद नहीं करता उसी प्रकार प्रजा से कर ग्रहण करें। जिस प्रकार अङ्गारकारक (जंगल में कोयला बनाने वाला) पेड़ों को समूल नाश करके कोयले बनाता है, वैसे प्रजा का समूल उच्छेद न करे।

विशेष–कारयेत् इस पद में **णिच्** प्रत्यय स्वार्थ में है। इसलिए इस का अर्थ 'करे' है 'करवाये' अर्थ प्रकरण में संगत नहीं होता। चुरादि गण से भिन्न धातुओं से भी स्वार्थ में णिच् देखा जाता है। यथा– **रामो राज्यमकारयत्।** रामायण, युद्ध० १२८/१०५/ ॥१८॥

26. अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति प्रज्ञा च कौल्यं च दमः श्रुतं चं।
पराक्रमश्चाबहुभाषिता च दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च॥

हे राजन्–प्रज्ञा (=विशेष ज्ञान), कुलीनता, इन्द्रिय-दमन, ज्ञान, पराक्रम, मितभाषी होना, यथाशक्ति दान और कृतज्ञता ये आठ गुण पुरुष को प्रकाशित करते हैं, बढ़ाते हैं।

विशेष–कुलीनता का सम्बन्ध वैभव-सम्पन्न घराने से नहीं है। इस का सम्बन्ध है अपने कुल की प्रतिष्ठा का ध्यान रखने से, चाहे वह धनवान् हो चाहे निर्धन। जिन कुलों में अपनी प्रतिष्ठा का ध्यान रखा जाता है उस कुल के पुरुषों में अनेक गुण स्वभावतः प्रविष्ट हो जाते हैं। ऐसे कुलीन घराने के मनुष्य अपने कुल को अप्रतिष्ठा से बचाने के जिन विविध प्रकार के कष्टों को सहन कर लेते हैं, परन्तु कुल की अप्रतिष्ठा नहीं होने देते। इस प्रकार के कुल में उत्पन्न हुए पुरुष कुलीन कहलाते हैं।

शास्त्रकारों ने राजपरिषद् और मन्त्रीमण्डल के पुरुषों के चुनाव में एक गुण कुलीनता का भी निर्देश किया है, उसका कारण यह है कि ऐसे महनीय गोप्य पदों पर रखे गए व्यक्तियों से यदि कोई राजा दुर्भाग्य वश दुर्व्यवहार कर बैठे तो वे स्वयं राजकीय यातना को सहर्ष सहन कर लेते हैं, पर बदला लेने की भावना से वे राज्य के विशेष रहस्य अन्य जनों को प्रकट नहीं करते। यही बात सेवकों पर लागू होती है। ऐसे सेवक कभी नमक-हरामता प्रदर्शित नहीं करते हैं।

कुलीनता=अभिजातता का वैशिष्ट्य सदा रहा है और रहेगा, परन्तु इसका सम्बन्ध धन-सम्पन्नता के साथ नहीं है, यह ध्यान रखना चाहिए। आजकल कुल की महत्ता उसके सद्गुणों से न आंकी जाकर धन से आंकी जा रही है, यह मूर्खता है।

27. न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम्।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति सत्यं न तत् सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम्॥

वह सभा=परिषद ही नहीं है जिस में वृद्ध=ज्ञान और वय से वृद्ध पुरुष न हों, वे वृद्ध=ज्ञान ओर वय से वृद्ध ही नहीं हैं जो धर्म का कथन न करें, न वह धर्म ही है जिस में सत्य का योग न हो और न वह सत्य ही है जो छल से संयुक्त हो।

विशेष–इस लक्षण के अनुसार जिन भीष्म पितामह एवं आचार्य द्रोण के सन्मुख रजस्वला एकवस्त्रा द्रौपदी को नंगी करने के लिए उसका वस्त्र खींचा गया और ये महानुभाव टुकर-टुकर देखते रहे, दुर्योधन प्रभृति के अत्याचार का विरोध नहीं किया, वे वृद्ध की परिभाषा में गिने ही नहीं जा सकते।

28. न श्रद्दधाति कल्याणं परेभ्योऽप्यात्मशङ्कितः।
निराकरोति मित्राणि यो वै सोऽधमपूरुषः॥

जो पुरुष उत्तम कर्मों वा पुरुषों में विश्वास नहीं रखता, गुरुजनों में भी स्वभाव से ही शङ्कित रहता है, किसी का विश्वास नहीं करता, और मित्रों का परित्याग करता है, वह निश्चय ही अधम पुरुष होता है॥१९॥

29. उत्तमानेव सेवेत प्राप्तकाले तु मध्यमान्।
अधमांस्तु न सेवेत य इच्छेद् भूतिमात्मनः॥

जो मनुष्य अपना कल्याण चाहता है उसे चाहिए कि वह सदा उत्तम पुरुषों का ही सेवन=संग करे। समय पड़ने पर=अत्यन्त आवश्यक हाने पर मध्यम पुरुषों का संग करे, परन्तु अधम पुरुषों का संग कभी नहीं करे॥२०॥

30. तपो दमो ब्रह्मवित्तं वितानाः पुण्या विवाहाः सततान्नदानम्।
येष्वेवैते सप्त गुणा वसन्ति सम्यग्वृत्तास्तानि महाकुलानि॥

जिन कुलों में तप=सुख-दुःख आदि द्वन्दों का सहन करना, दम=इन्द्रियजय, वेदादि का स्वाध्याय, यज्ञ, श्रेष्ठ विवाह, सदा अन्न का दान और उत्तम आचार ये सात गुण रहते हैं, वे महाकुल=श्रेष्ठ कुल कहलाते हैं।

विशेष–धर्मशास्त्रों में ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापात्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस ओर पैशाच ये आठ प्रकार के विवाह माने गये हैं। इन श्रेष्ठों में भी पूर्व-पूर्व श्रेष्ठतर एवं श्रेष्ठतम् होते है। अधम विवाहों में भी उत्तर-उत्तर अधम एवं अधमतम होते हैं। इनके लक्षण धर्मशास्त्रों से जानने चाहिये।

उत्तम और अधम विवाहों में भेद इतना ही है कि प्रथम कोटि के विवाहों में विवाह आदि धार्मिक कृत्य करके समाज द्वारा अनुमोदित होकर स्त्री-पुरुष परस्पर संबन्ध करते हैं। अधर्म कोटि के विवाहों में काम के वशीभूत होकर स्त्री-पुरुष पहले सामाजिक नियमों को भंग करके परस्पर संसर्ग कर लेते हैं और पीछे समाज से उसका अनुमोदन चाहते हैं। प्राचीन समाज भी उनके इस कार्य को, जिसे काम के वशीभूत होकर किया और उसका प्रायश्चित करना चाहते हैं, ऐसा स्वीकार कर क्षमा करके सामाजिक वैवाहिक विधि कराकर उसको स्वीकार कर लेता था, बहिष्कृत नहीं करता था ।।२३।।

31. न तन्मित्रं यस्य कोपाद् बिभेति यद् वा मित्रं शङ्कितेनोपचर्यम्।
यस्मिन् मित्रे पितरीवाश्वसीत तद् वै मित्रं सङ्गतानीतराणि॥

वह मित्र नहीं है जिसके कोप से डर लगता हो, अथवा जिससे शङ्कित होकर व्यवहार किया जाता हो। मित्र वही होता है जिसमें पिता के समान विश्वास होता है, अन्य तो संगत इकट्ठे हुए अर्थात् ''साथी'' मात्र कहलाते हैं।।३७।।

32. बुद्ध्या भयं प्रणुदति तपसा विन्दते महत्।
गुरुशुश्रूषया ज्ञानं शान्तिं योगेन विन्दति॥

बुद्धि=ज्ञान से भय को दूर करता है, तप से महत् ब्रह्म एवं योग्य गुरु को प्राप्त होता है, गुरु की सेवा से ज्ञान प्राप्त होता है और योग (सुख-दुःख आदि में समभाव **समत्वं योग उच्यते–**गीता २/४८) से शान्ति को प्राप्त करता है।

33. न मनुष्ये गुणः कश्चिद् राजन् सधनतामृते।
अनातुरत्वाद् भद्रं ते मृतकल्पा हि रोगिणः॥

हे राजन् ! मनुष्य में धनिकता (धन से युक्त होना) और रोगी न होना के अतिरिक्त कोई गुण नहीं है। निर्धन रोगी पुरुष मरे हुए के समान होते हैं।

विशेष–यहाँ सधनता और स्वस्थता दोनों को प्रधान मानुष गुण कहा है, धन होने पर भी यदि स्वस्थता नहीं है, तो धन की गुणवत्ता भी समाप्त हो जाती है। अतः स्वस्थता सबसे प्रधान गुण है। हाँ, स्वस्थता के लिए धन सहायक हो सकता है, क्योंकि निर्धन मनुष्य अपनी चिकित्सादि कराने में समर्थ नहीं होता।

महात्मा विदुर ने संकेत किया है कि हे धृतराष्ट्र तुम ऐश्वर्य से युक्त व स्वस्थ रहे। ऐश्वर्य का स्वस्थता पूर्वक भोग करने के लिए आवश्क है कि तुम पाण्डवों को उनका भाग दो, तभी तुम्हारा कल्याण होगा। यह आशय श्लोकगत **'भद्रं ते'** पदों से संकेतित किया है।।६७।।

34. त्यजेद् कुलार्थे पुरुषं ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्।।

मनुष्य को चाहिए कि कुल की उन्नति और सुख शान्ति के लिए एक अहितकारी व्यक्ति को छोड़ देवे उसकी उपेक्षा कर दे, ग्राम की उन्नति व सुख समृद्धि के लिए कुल को छोड़ देवे, प्रदेश के कल्याण के लिए ग्राम को छोड़ देवे और अपनी आत्मा की उन्नति वा सुख समृद्धि के लिए पृथिवी के राज्य को भी छोड़ देवे।

विशेष–यह नियम है देश जाति और समाज की सुख शान्ति एवं उन्नति का। जो परिवार का नायक वा राजा इस नियम का आश्रयण नहीं करते वह अपनी हानि तो करते ही हैं, अपने कुल, ग्राम, नगर एवं प्रदेश के दुःख के कारण भी बनते हैं।।१७।।

35. दुष्कुलीनः कुलीनो वा मर्यादां यो न लंघयेत्।
धर्मापेक्षी मृदुर्ह्रीमान् स कुलीनशताद् वरः।।

उत्तम कुल में जन्मा या अधम कुल में, जो मनुष्य सीमा का उल्लंघन नहीं करता है, धर्म की अपेक्षा रखने वाला, कोमल-स्वभाव वाला एवं लज्जाशील है, वह सैकड़ों उत्तम कुलोत्पन्न मनुष्यों से श्रेष्ठ है अर्थात् कुल से शील श्रेष्ठ होता है।।४६।।

36. ययोश्चित्तेन वा चित्तं निभृतं निभृतेन वा।
समेति प्रज्ञया प्रज्ञा तयोर्मैत्री न जीर्यति।।

जिन दो मनुष्यों का चित्त के साथ चित्त, गुप्त रहस्य के साथ गुप्त रहस्य तथा बुद्धि के साथ बुद्धि मिल जाती है, उनकी मित्रता जीर्ण नहीं होती।।४७।।

37. दुःखार्तेषु प्रमत्तेषु नास्तिकेष्वलसेषु च।
न श्रीर्वसत्यदान्तेषु ये चोत्साहविवर्जिताः।।

जो लोग दुःख से पीड़ित, प्रमादी, नास्तिक, आलसी, असंयमी जन और हतोत्साहित हैं, उनके पास सम्पत्ति नहीं रहती।।६१।।

38. अक्रोधेन जयेत् क्रोधमसाधुं साधुना जयेत्।
जयेत् कदर्यं दानेन जयेत् सत्येन चानृतम्।।

क्रोध को प्रेम से जीतें, दुष्ट मनुष्य को उत्तम व्यवहार से वश में करें, कृपण मनुष्य को दान के द्वारा वश में करें और असत्य पर सत्य के द्वारा विजय प्राप्त करें।।७२।।

39. अभिवादलशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि सम्प्रवर्धन्ते कीर्तिरायुर्यशो बलम्।।

गुरुजनों का सम्मान करने के स्वभाव वाले तथा सदा अनुभवी वृद्धों की सेवा करने वाले मनुष्य के सम्मान, आयु, यश तथा बल-ये चारों बढ़ते हैं [मनुस्मृति २।१२१ में कीर्ति के स्थान में 'विद्या' पाठ है]।।७४।।

40. योऽभ्यर्चितः सद्भिरसज्जमानः करोत्यर्थं शक्तिमहापयित्वा।
क्षिप्रं यशस्तं समुपैति सन्तमलं प्रसन्ना हि सुखाय सन्तः।।

जो सत्पुरुषों से प्रशंसित हुआ अनासक्त होकर, शक्ति का उल्लघंन न करके बहुत कार्य करता

है, वह श्रेष्ठ पुरुष शीघ्र सुयश को प्राप्त होता है, क्योंकि प्रसन्न हुए सत्पुरुष निश्चय ही कल्याण करने में समर्थ होते हैं।।१।।

41. **आलस्यं मदमोहौ च चापल्यं गोष्ठिरेव च।**
स्तब्धता चाभिमानित्वं तथात्यागित्वमेव च।।
एते वै अष्ट दोषाः स्युः सदा विद्यार्थिनां मताः।।

आलस्य करना, मदकारी पदार्थों का सेवन, घर आदि में मोह रखना, चपलता=एकाग्रचित्त न होना, व्यर्थ की बात में समय बिताना, उद्धतपना या जड़ता, अहंकार और लालची होना, ये आठ दोष विद्यार्थियों के माने गये हैं, अर्थात् इन दुर्गणों से युक्त को विद्या प्राप्त नहीं होती।।५।।

42. **सुखार्थिनः कुतो विद्या नास्ति विद्यार्थिनः सुखम्।**
सुखार्थी वा त्यजेद् विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत् सुखम्।।

सुख चाहने वाले को विद्या कहाँ? विद्यार्थी को सुख कहाँ? इसलिये जो सुख की चाहना करने वाला है उसे विद्या की प्राप्ति की इच्छा छोड़ देनी चाहिए अथवा विद्यार्थी को सुख की इच्छा छोड़ देनी चाहिये।।६।।

43. **आत्मा नदी भारत पुण्यतीर्था सत्योदका धृतिकूला दयोर्मिः।**
तस्यां स्नातः पूयते पुण्यकर्मा पुण्यो ह्यात्मा नित्यमलोभ एव।।

हे भरतकुलोत्पन्न धृतराष्ट्र! यह आत्मा नदी रूप है, पुण्यकर्म इस में घाट रूप है। सत्य इस नदी का जलस्थानीय है, धृति इसके दो किनारे है, दया लहरें हैं। ऐसी आत्मा रूपी नदी में स्नान करने वाला पुण्यकर्मा मनुष्य पवित्र हो जाता है। लोभरहित वैराग्य-ज्ञानयुक्त आत्मा ही पुण्यशील होता है।।२१।।

44. **निन्योदकी नित्ययज्ञोपवीती नित्यस्वाध्यायी पतितान्नवर्जी।**
सत्यं ब्रुवन् गुरवे कर्म कुर्वन् न ब्राह्मणश्च्यवते ब्रह्मलोकात्।।

नित्य यथा समय स्नान आचमन (संध्या) करने वाला, नित्य अग्निहोत्रादि यज्ञ करने वाला, नित्य स्वाध्याय करने वाला, धर्मादि आचरण से पतित पुरुषों के अन्न, धन आदि से दूर रहने वाला, सत्य बोलने वाला और गुरु का कार्य करने वाला (=वृद्ध जनों का वशवर्ती) ब्राह्मण ब्रह्मलोक=बृह्मत्व से नष्ट नही होता।।२५।।

45. **उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी दैवं हि दैवमिति कापुरुषा वदन्ति।**
दैवं निहत्य कुरु पौरूषमात्मशक्त्या यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः।।

उद्योगी=पुरुषार्थी पुरुषसिंह को ही लक्ष्मी=ऐश्वर्य प्राप्त होता है। दैव दैव (=भाग्य) की रट तो कायर=पुरुषार्थहीन व्यक्ति लगाते हैं। आत्मशक्ति से भाग्य से प्राप्त दोष को नष्ट करने के लिए पुरुषार्थ करना चाहिये। पुरुषार्थ करने पर भी यदि सिद्धि प्राप्त नहीं होती तब भी हतोत्साहित नहीं होना चाहिए, वहाँ विचार करना चाहिए कि हमारे पुरुषार्थ में कहाँ क्या दोष रहा, जिस से इष्ट लाभ नहीं मिला। उस दोष को जानकर पुनः सिद्धि के लिए प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार नित्य पुरुषार्थी स्वदोष दर्शन में समर्थ व्यक्ति कभी न कभी अपने इष्ट को प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है।

भृर्तहरि शतकम्

(प्रमुख श्लोक एवं उनकी व्याख्या)

1. **धैर्यं यस्य पिता क्षमा च जननी शान्तिश्चिरं गेहिनी,**
सत्यं मित्रमिदं दया च भगिनी भ्राता मनःसंयमः।
शय्या भूमितलं दिशोऽपि वसनं ज्ञानामृतं भोजनम्,
ह्येते यस्य कुटुम्बिनो वद सखे कस्माद् भयं योगिनः ॥

(भृर्तहरिकृत – वैराग्यशतक, श्लो० १००)

व्याख्या – धैर्य जिसका पिता है, क्षमा जिसकी माता है, लम्बे काल तक साथ देने वाली शान्ति जिसकी स्त्री है, सत्य जिसका मित्र है, दया जिसकी बहिन है, मन का संयम जिसका भाई है, भूमि ही जिसकी शय्या है, दिशाएँ ही जिसके वस्त्र हैं और ज्ञान रूपी अमृत का पान करना ही जिसका भोजन है, हे मित्र! जिस योगी के ऐसे कुटुम्बीजन हैं, उसे संसार में किससे भय होगा? अर्थात् किसी से भी भय नहीं होगा।

2. **यदा किंचिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवम्,**
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः।
यदा किञ्चित्किञ्चिद् बुधजनसकाशादवगतम्,
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः ॥

(भर्तृहरिकृत – नीतिशतक, श्लो० ०७)

व्याख्या – जब मुझे कुछ ज्ञान हुआ तो मैं हाथी के समान मदांध होकर अपने मन में ज्ञानी होने का गर्व करने लगा और समझने लगा कि मैं सर्वज्ञ हूँ। मेरे जैसा कोई नहीं। लेकिन जब मैं विद्व-समाज से, ज्ञानीजनों से, सद-संगति से कुछ-कुछ प्राप्त कर सका या जब मुझे यथार्थ का कुछ-कुछ ज्ञान हुआ, तब मेरा वह मद ज्वर के समान उतर गया और मैंने जाना कि मैं तो निपट मूर्ख हूँ।

3. **शक्यो वारयितुं जलेन हुतभुक् छत्रेण सूर्यातपो,**
नागेन्द्रो निशतांकुशेन समदो दण्डेन गोगर्दभौ।
व्याधिर्भैषजसंग्रहैश्च विविधैर्मन्त्रप्रयोगैर्विषम्,
सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्रविहितं मूर्खस्य नास्त्यौषधम् ॥

(भर्तृहरिकृत – नीतिशतक, श्लो० ११)

व्यख्या – अग्नि का जल से, धूप का छाते से, मदोन्मत्त हाथी का अंकुश से, बैल व गधे आदि का डंडे से, रोगों का औषधियों से और विष का मन्त्रादि प्रयोगों द्वारा निवारण हो जाता है। इस तरह शास्त्रों में अनेक प्रकार के विकारों की अनेक औषधियाँ वर्णित हैं, किन्तु मूर्खता की शास्त्रों में कोई औषधि नहीं बताई गई है।

4. **केयूराणि न भूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्जवला,**
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालंकृता मूर्द्धजाः।

वाण्येका समलङ्करोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते,
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम् ॥

(भर्तृहरिकृत – नीतिशतक, श्लो० १९)

व्यख्या – चन्द्रमा के समान चमचमाते हुए हीरे मोती से बने आभूषण, जो हाथों में और गले में धारण किये जाते हैं, वे मनुष्य को शोभायमान नहीं करते, और न ही स्नान, तैल, इत्र, पुष्पादि से किया हुआ श्रृंगार तथा सजाये-सँवारे हुए बाल मनुष्य को भूषित करते हैं। मनुष्य का सच्चा आभूषण तो शुद्ध, सरल, सत्य, सुमधुर वाणी ही है। अन्य सभी आभूषण तो धीरे-धीरे काल-क्रम से नष्ट हो जाते हैं, परन्तु वाणी रूपी सच्चा आभूषण सदैव जगमगाता रहता है।

5. **विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्न गुप्तं धनं,**
विद्या भोगकरी यशः सुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः।
विद्या बंधुजनो विदेशगमने विद्या परा देवता,
विद्या राजसु पूज्यते न तु धनं विद्याविहीनः पशुः ॥

(भर्तृहरिकृत – नीतिशतक, श्लो० १९)

व्यख्या – विद्या मनुष्य की शोभा है, विद्या ही मनुष्य का अत्यन्त गुप्त धन है। विद्या भोग्य पदार्थ, यश और सुख देने वाली गुरुओं की भी गुरु है। विदेश यात्रा में विद्या कुटुम्बीजनों और मित्रों के समान सहायक होती है। विद्या ही सबसे बड़ी देवता है, हर स्थान पर विद्या की ही पूजा होती है न कि धन की। वास्तव में देखा जाये तो विद्याहीन मनुष्य पशु के तुल्य ही है।

6. **प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः,**
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः,
प्रारभ्यचोत्तमजना न परित्यजन्ति ॥

(भर्तृहरिकृत – नीतिशतक, श्लो० २६)

व्यख्या – नीच अधम श्रेणी के मनुष्य कठिनाईयों के भय से किसी उत्तम कार्य को प्रारम्भ ही नहीं करते। मध्यम श्रेणी के मनुष्य कार्यों को प्रारम्भ करके विघ्नों से घबराकर बीच में ही छोड़ देते हैं, परन्तु उत्तम श्रेणी के वीर मनुष्य विघ्न बाधाओं से बार-बार पीड़ित होने पर भी प्रारम्भ किये हुए उत्तम कार्य को पूरा किये बिना नहीं छोड़ते।

7. **रे रे चातक! सावधान मनसा मित्र! क्षणं श्रूयता-**
मम्भोदा बहवो हि सन्ति गगने सर्वेऽपि नैतादृशाः।
केचिद् वृष्टिभिरार्द्रयन्ति वसुधां गर्जन्ति केचिद् वृथा,
यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं वचः ॥

(भर्तृहरिकृत – नीतिशतक, श्लो० ५०)

व्यख्या – रे रे चातकों! तुम थोड़ी देर के लिए सावधान होकर मेरी भी बात सुन लो। आकाश में अनेक मेघ हैं, लेकिन वे सभी एक जैसे नहीं हैं। उनमें से कुछ ही वर्षा करके पृथ्वी को हरा-भरा करते हैं, बाकी कुछ व्यर्थ में ही गरजते रहते हैं। इसलिए तुम जिस-जिसको देखा करो, उस-उसके समक्ष दीन वचन मत बोला करो।

8. **लोभश्चेद गुणेन किं पिशुनता यद्यस्ति किं पातकैः,**
सत्यं चेत्तपसा च किं शुचिमनो यद्यस्ति तीर्थेन किम्?

सौजन्यं यदि किं गुणैः सुमहिमा यद्यस्ति किं मण्डनैः,
सद्विद्यायदि किं धनैरपयशो यद्यस्ति किं मृत्युना? ॥

(भर्तृहरिकृत - नीतिशतक, श्लो० ५१)

व्यख्या – मनुष्य के जीवन में यदि लोभवृत्ति विद्यमान है, तो अन्य दुर्गुणों को ढूँढ़ने की आवश्यकता क्या है? यदि चुगलखोरी है, तो अन्य दोषों की गणना क्या करनी? यदि मन पवित्र है, तो तीर्थ में घूमने से क्या लाभ? यदि सज्जनता है, तो अन्य गुणों की क्या आवश्यकता है? यदि यश फैल रहा है, तो आभूषणों से क्या प्रयोजन? यदि उत्तम विद्या है, तो धन की क्या आवश्यकता है? और यदि अपयश है, तो फिर मृत्यु की क्या आवश्यकता?

9. **मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णास् -**
त्रिभुवनमुपकारश्रेणीभिः प्रीणयन्तः।
परगुणपरमाणून्पर्वतीकृत्य नित्यं,
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः॥

(भर्तृहरिकृत - नीतिशतक, श्लो० ७४)

व्यख्या – मन, वचन, और शरीर के द्वारा प्राणिमात्र का कल्याण करने की भावना से युक्त हुए, शुभकर्मों से तीनों लोकों का उपकार करके सबको तृप्त करने वाले तथा दूसरों के छोटे-छोटे गुणों को भी पर्वत के समान बड़ा मानकर अपने हृदय में प्रसन्न होने वाले महात्मा संसार में कितने हैं? अर्थात् बहुत कम हैं।

10. **क्वचित् भूमौ शय्या क्वचिदपि च पर्यङ्कशयनं,**
क्वचिच्छाकाहारी क्वचिदपि च शाल्योदनरुचिः।
क्वचित्कन्थाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरो,
मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम्॥

(भर्तृहरिकृत - नीतिशतक, श्लो० ७७)

व्याख्या – कभी सुन्दर शय्याओं पर शयन करते हैं तो कभी भूमि पर ही सो जाते हैं। कभी अच्छे-अच्छे स्वादिष्ट पकवानों का आनन्द लेते हैं तो कभी शाक-पात खाकर ही निर्वाह कर लेते हैं। कभी सुन्दर वस्त्रों को धारण करते हैं, तो कभी गुदड़ी से ही शरीर को ढक लेते हैं। विचारशील-विवेकी व्यक्ति अपने लक्ष्य की ओर ही दृष्टि रखे होते हैं, मार्ग में आने वाले सुख-दुःख की परवाह नहीं किया करते।

भावार्थ – मनस्वियों का अपने कार्य से ही प्रयोजन होता है उन्हें सुख-दुख की चिन्ता नहीं सताती। वस्तुतः वे इस प्रकार की प्रवृत्ति के होते हैं कि जो मिला उसी में संतोष कर लिया और लगनपूर्वक अपने कार्य में लगे रहे।

11. **निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,**
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

(भर्तृहरिकृत - नीतिशतक, श्लो० ७९)

व्याख्या – नीति में निपुण व्यक्ति चाहे निन्दा करें या प्रशंसा, धन-ऐश्वर्य की प्राप्ति हो या

जो पास में हो वह भी चला जावे, आज ही मृत्यु हो जाए या लम्बे काल तक जीवन बना रहे, किन्तु जो धीर व्यक्ति हैं, वे सत्य, न्याय, आदर्श के मार्ग से एक कदम भी इधर-उधर नहीं हटते, प्रसन्न होकर कष्टों को सहन करते हुए दृढ़ता से उसी मार्ग पर चलते रहते हैं।

12. आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः।
नास्त्युद्यमसमो बन्धुः कुर्वाणो नावसीदति॥

(भर्तृहरिकृत - नीतिशतक, श्लो० ८५)

व्याख्या – महाराज भर्तृहरि का यह कथन अक्षरशः सत्य है कि मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु उसके शरीर में रहने वाला उसका आलस्य ही है। बाहरी शत्रु उसे इतनी हानि नहीं पहुँचाते जितनी हानि आलस्य पहुँचाता है। वे कहते हैं कि मनुष्य का सबसे बड़ा मित्र उसका पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ के करते रहने पर उसे सदा ही सुख की अनुभूति होती है।

13. न संसारोत्पन्नं चरितमनुपश्यामि कुशलं,
विपाकः पुण्यानां जनयति भयं मे विमृशतः।
महद्भिः पुण्यौघैश्चिरपरिगृहीताश्च विषया,
महान्तो जायन्ते व्यसनमिव दातुं विषयिणाम्॥

(भर्तृहरिकृत - वैरागयशतक, श्लो० ०३)

व्याख्या – संसारी कर्मों में तनिक भी सुख नहीं। विचार करने पर पवित्र कर्म भी भय ही उत्पन्न करते हैं। इसके अतिरिक्त अच्छे और पुण्य कर्म करने से जो विषय सुख के समान भोगे गए सुख भी अन्त में समय में दुख का कारण बनते हैं।

14. भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्तास्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः॥

(भर्तृहरिकृत-वैराग्यशतक, श्लो० १२)

व्याख्या – हम सांसारिक विषय भोगों का उपभोग नहीं कर पाये, अपितु उन भोगों को प्राप्त करने की चिन्ता ने हम को भोग लिया। हमने तप नहीं किया, बल्कि आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक ताप हम को ही जीवन-भर तपाते रहे। भोगों को भोगते-भोगते हम काल को नहीं काट पाये, प्रत्युत काल ने हम को ही नष्ट कर दिया। इसी प्रकार भोगों को प्राप्त करने स्वरूप तृष्णा तो बूढ़ी नहीं हुई अपितु हम ही बूढ़े हो गये।

15. भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद् भयं,
मोने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जरायाः भयम्।
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद् भयं,
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम् ॥

(भर्तृहरिकृत - वैरागयशतक, श्लो० ३१)

व्याख्या – विषय भोगों में रोगों का भय है, वंश में आचार भ्रष्टता या सन्तान विच्छेद का भय है, धन में राजा का भय है, मौन रहने में दीनता का भय है, बल प्राप्त करने पर शत्रुओं का भय है, रूप-सौन्दर्य में बुढ़ापे का भय है, शास्त्र पढ़ने पर पराजित होने का भय है, गुण प्राप्त करने में दुष्टों द्वारा व्यर्थ की निन्दा का भय है, शरीर में मृत्यु का भय है, इस प्रकार पृथ्वी पर सारी वस्तुएँ भय से युक्त हैं, केवल एक वैराग्य ही निर्भय बनाने वाला है।

16. तपस्यन्तः सन्तः किमधिनिवसामः सुरनदीं,
गुणोदारान्दारानुत परिचरामः सविनयम्।
पिबामः शास्त्रौघानुत विविधकाव्यामृतरसान्,
न विद्मः किं कुर्मः कतिपयनिमेषायुषि जने॥

(भर्तृहरिकृत – वैरागयशतक, श्लो० ३६)

व्याख्या – गंगा तट पर जाकर तप करें या सेवापरायण पत्नी से लगाव रखकर आनन्दपूर्वक जीवन व्यतीत करें या पण्डितजनों के साथ शास्त्रों का अध्ययन करें? इस क्षणभँगुर जीवन में व्यक्ति समझ ही नहीं पाता कि वह क्या करे और क्या न करे?

17. गङ्गातीरे हिमगिरिशिलाबद्धपद्मासनस्य,
ब्रह्मध्यानाभ्यसनविधिना योगनिद्रां गतस्य।
किं तैर्भाव्यं मम सुदिवसैर्यत्रते निर्विशङ्काः,
कण्डूयन्ते जरठहरिणाः स्वाङ्गमङ्गे मदीये॥

(भर्तृहरिकृत – वैराग्यशतक, श्लो० ३७)

व्याख्या – कैसे भले होंगे वे दिन, जब मैं गंगा नदी के किनारे हिमालय पर जाकर किसी शिला पर पदमासन् में बैठकर ब्रह्म के ध्यान में लीन हो जाऊँगा और बूढ़े हिरण अपने शरीर की खुजली मिटाने के लिए अपना शरीर मेरे शरीर से रगड़ेंगे, तब भी मेरी समाधि नहीं टूटेगी। क्या ऐसा सम्भव होगा? क्या ऐसे दिन मेरे जीवन में आएँगे?

18. आशा नाम नदी मनोरथजला तृष्णातरङ्गाकुला,
रागग्राहवती वितर्कविहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी।
मोहावर्तसुदुस्तराऽतिगहना प्रोत्तुङ्गचिन्तातटी,
तस्याः पारगता विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः॥

(भर्तृहरिकृत – वैराग्यशतक, श्लो० ४०)

व्याख्या – इस संसार में एक आशा नाम की नदी है। यह नदी मनोरथ-इच्छारूपी जल से भरी हुई है। इस में तृष्णालोभ रूपी तरङ्गे उठ रही हैं। यह राग-द्वेष रूपी मगरमच्छों से परिपूर्ण है तथा तर्क-वितर्क रूपी जल पक्षी इसमें तैर रहे हैं। धैर्यरूपी वृक्षों को उखाड़ने वाली इस नदी में अज्ञान रूपी भँवर उठ रहे हैं। इस बड़ी-बड़ी इच्छाओं के तटों से युक्त भयंकर नदी को पार करना बहुत कठिन है, परन्तु इस नदी को शुद्ध अन्तःकरण वाले त्यागी, तपस्वी, विरक्त योगी पार करके बन्धनों से छूटकर ब्रह्मानन्द को भोगते हैं।

19. चाण्डालः किमयं द्विजातिरथवा शूद्रोऽथ किं तापसः,
कि वा तत्त्वविवेकपेशलमतिर्योगीश्वरः कोऽपि किम्।
इत्युत्पन्नविकल्पजल्पमुखरैराभाष्यमाणा जनै-
र्न क्रुद्धाः पथि नैव तुष्टमनसो यान्ति स्वयं योगिनः॥

(भर्तृहरिकृत – वैराग्यशतक, श्लो० ५१)

व्याख्या – "यह चाण्डाल है, अथवा ब्रह्मण है? शूद्र है, या कोई तपस्वी है? अथवा कोई चतुर बुद्धिमान् तत्त्ववेत्ता है, या योगीश्वर है, अथवा कोई धूर्त है?" इस प्रकार विभिन्न प्रकार के तर्क-वितर्क करने वाले व्यक्तियों पर योगी लोग न तो क्रोध करते हैं और न ही हर्षित होते हैं, किन्तु अपने अध्यात्म मार्ग पर स्वतन्त्रता पूर्वक चलते रहते हैं।

20. वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वं च लक्ष्म्या,
सम इह परितोषो निर्विशेषो विशेषः।
स तु भवतु दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला,
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः॥

(भर्तृहरिकृत – नीतिशतक, श्लो० ४५)

व्याख्या – मुनि राजा से कहता है कि हे राजन् ! हम वृक्षों की छाल से बने वस्त्रों को पहिन कर सन्तुष्ट हैं और तुम सोना–चाँदी, हीरे–जवाहरात आदि लक्ष्मी को प्राप्त करके सन्तुष्ट हैं। इस प्रकार हम दोनों का संतोष तो समान ही है, क्योंकि सन्तोष में कोई भेद नहीं है। संसार में दरिद्र तो वह व्यक्ति होता है जिसकी तृष्णाएँ बहुत होती हैं। मन के सन्तुष्ट होने पर कौन निर्धन है और कौन धनवान्?

21. यावत्स्वस्थमिदं शरीरमरुजं यावज्जरा दूरतो,
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्,
संदीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः॥

(भर्तृहरिकृत – वैराग्यशतक, श्लो० ७९)

व्याख्या – जब तक यह शरीर स्वस्थ अर्थात् रोगरहित है, जब तक बुढ़ापा दूर है, जब तक सभी इन्द्रियों में शक्ति विद्यमान है और आयु बची हुई है, तभी तक बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिए कि आत्मकल्याण के लिए महान् पुरुषार्थ करे, अन्यथा जैसे घर में आग लग जाने पर कुआँ खोदने से कोई लाभ नहीं होता वैसे मृत्यु काल में कुछ भी नहीं हो सकेगा।

22. आयुर्वर्षशतं नृणां परिमितं रात्रौ तदर्धं गतं,
तस्यार्द्धस्य परस्य चार्धमपरं बालत्ववृद्धत्वयोः।
शेषं व्याधिवियोगदुःखसहितं सेवादिभिर्नीयते,
जीवे वारितरङ्गचञ्चलतरे सौख्यं कुतः प्राणिनाम्॥

(भर्तृहरिकृत – वैराग्यशतक, श्लो० ९४)

व्याख्या – सामान्य रूप से मनुष्य की आयु सौ वर्ष की मानी गई है। इसका आधा भाग अर्थात् पचास वर्ष तो सोने में ही चले जाते हैं। शेष बचा आधे का आधा भाग अर्थात् पच्चीस वर्ष, वह बाल्यावस्था और वृद्धावस्था में बीत जाता है। शेष पच्चीस वर्ष का समय रोग, वियोग, आजीविका, बच्चों के लालन–पालन आदि दुःखों में बीत जाता है। जल की चञ्चल तरङ्गों के समान जीवन में मनुष्य को सुख कहाँ है? सुख तो ईश्वरोपासना में ही है।

23. धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ (मनु० ६–९२)

भावार्थ – धैर्य रखना, सहनशील होना, मन को अधर्म से रोकना, चोरी–त्याग, रागद्वेष न करना, इन्द्रियों को धर्म में चलाना, बुद्धि बढ़ाना, विद्वान् बनना, सत्याचरण एवं क्रोध न करना ये दश धर्म के लक्षण हैं।

24. एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान्परित्यज्य ये,
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये।
तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये,

ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे॥

(भर्तृहरिकृत - नीतिशतक, श्लो० ७९)

व्याख्या – संसार में वे मनुष्य 'सत्पुरुष' हैं। जो अपने स्वार्थ को छोड़कर दूसरों की भलाई के लिए अपने तन-मन-धन को लगा देते हैं। दूसरे प्रकार के मनुष्य 'सामान्य' कहलाते हैं जो अपने काम न बिगाड़ते हुए दूसरों की भी भलाई करते हैं। तीसरे प्रकार के मनुष्य 'राक्षस' कहलाते हैं जो अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के लिए दूसरों के बने बनाये काम को बिगाड़ देते हैं। परन्तु जो लोग बिना किसी स्वार्थ के (= अपने लाभ के बिना ही) व्यर्थ ही दूसरों की हानि करते हैं, ऐसे चौथे प्रकार के मनुष्यों को किस नाम से पुकारा जाय हम नहीं जानते, आप स्वयं ही सोचें।

25. घृष्टं घृष्टं पुनरपि पुनश्चन्दनं चारु गन्धं,
छिन्नं छिन्नं पुनरपि पुनः स्वादु चैवेक्षुदण्डम्।
दग्धं दग्धं पुनरपि पुनः काञ्चनं कान्तवर्णं,
प्राणान्तेऽपि प्रकृतिविकृतिर्जायते नोत्तमानाम्॥

व्याख्या – चन्दन को ज्यों-ज्यों घिसेंगे, त्यों-त्यों वह मधुर सुगन्ध प्रदान करेगा। ईख =गन्ने को ज्यों-ज्यों पेलेंगे, त्यों-त्यों वह अधिक मीठा रस देगा। सोने को ज्यों-ज्यों तपायेंगे, त्यों-त्यों वह और अधिक चमकता जायेगा। ठीक ऐसे ही जो महान् आत्माएँ हैं, उनको कोई कितना ही अपमानित करे, पीड़ा दे, बाधा पहुँचावे, वे अपने सत्य, न्याय, परोपकार, प्रसन्नता, नम्रता एवं प्रेम युक्त स्वभाव को कभी भी नहीं छोड़ते हैं, चाहे प्राण भी क्यों न चले जावें।

26. परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते।
स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम्॥

(भर्तृहरिकृत - नीतिशतक, श्लो० ३५)

व्याख्या – परिवर्तनशीलता इस संसार का नियम है। इस संसार में कौन नहीं मरता? कौन जन्म नहीं लेता? लेकिन जन्म लेना उसका ही सार्थक है जो अपने कुल को गौरवान्वित करता है तथा अपने वंश की अभिवृद्धि करता है।

27. ऐश्वर्यस्य विभूषणं सुजनता शौर्यस्य वाक्संयमो,
ज्ञानस्योपशमः श्रुतस्य विनयो वित्तस्य पात्रे व्ययः।
अक्रोधस्तपसः क्षमा प्रभवितुर्धर्मस्य निर्व्याजता,
सर्वेषामपि सर्वकारणमिदं शीलं परं भूषणम्॥

(भर्तृहरिकृत - नीतिशतक, श्लो० ८२)

व्याख्या – ऐश्वर्य का आभूषण सज्जनता है, शौर्य का आभूषण वाणी संयम है, ज्ञान का आभूषण शान्ति है, शास्त्र का आभूषण विनय है, धन का मान सद्व्यय से, तप की महत्ता अक्रोध से, प्रभुत्व की शोभा क्षमादान से है, धर्म की शोभा निष्कपटता से है और सदाचार सभी आभूषणों का आभूषण है।

28. उदयदि यदि भानुः पश्चिमे दिग्विभागे,
प्रचलति यदि मेरुः शीततां याति वह्निः।
विकसति यदि पद्मं पर्वताग्रे शिलायां,
न भवति पुनरुक्तं भाषितं सज्जनानाम्॥

व्याख्या – सूर्य चाहे पूर्व की अपेक्षा पश्चिम दिशा में उदय क्यों न हो, पर्वत चाहे चलने क्यों न लग जावे, अग्नि चाहे ठण्डी क्यों न हो जाये, कमल चाहे पर्वत की कठोर शिला पर क्यों न हो जाएँ, किन्तु जो सज्जन लोग हैं वे अपनी प्रतिज्ञा को, अपने दिये हुए वचन को नहीं बदलते, उस पर दृढ़ रहते हैं।

29. मौनान्मूकः प्रवचनपटुर्वातुलो जल्पको वा,
धृष्टः पार्श्वे वसति च सदा दूरतश्चाऽप्रगल्भः।
क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः,
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः॥

(भर्तृहरिकृत – नीतिशतक, श्लो० ५८)

व्याख्या – सेवक यदि मौन रहे तो उसे गूंगा, चतुर अर्थात् वाक्पटु हो तो बकवादी, समीप रहे तो ढीठ और दूर रहे तो मूर्ख, क्षमाशील हो तो भीरू, असहनशील हो तो अकुलीन कहा जाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि सेवा धर्म अत्यन्त कठिन है, योगीजन भी उसे ठीक से समझ नहीं पाते।

30. महाशय्या पृथ्वी विपुलमुपधानं भुजलता,
वितानं चाकाशं व्यजनमनुकूलोऽयमनिलः।
शरच्चन्द्रो दीपो विरतिवनितासङ्गमुदितः,
सुखी शान्तः शेते मुनिरतनुभूतिर्नृप इव॥

(भर्तृहरिकृत – वैराग्यशतक, श्लो० १००)

व्याख्या – पृथ्वी जिसकी शय्या है, मजबूत और गुंदाज बाजुएँ जिसकी तकिया हैं, जिस पर आकाश रूपी चादर तनी रहती है, पवन जिसे पंखा करती है, चन्द्रमा ही जिसके लिए दीपक है, विरक्ति, वैराग्य एवं अनासक्ति जिसकी सहचरी हैं, अतुल ऐश्वर्यशाली सम्राट् की भांति निश्चिन्त होकर जो सुख की नींद सोता है, वह कोई योगी-मुनि ही है।

वेदोपनिषद् सन्देश

परम पूज्य स्वामी जी महाराज द्वारा जिन वेदोपनिषद् मन्त्रों का प्रायः उच्चारण व उपदेश किया जाता है, उनका एक लघु संग्रह

सन्देश

वेद ईश्वरीय निर्भ्रान्त, नित्य, सार्वभौमिक, सार्वकालिक, सर्वहितकारी व पूर्ण वैज्ञानिक ज्ञान के महान ग्रन्थ हैं। वेद अपौरुषेय है। पवित्र ऋषियों की आत्मा में जो ईश्वरीय प्रेरणाएं सृष्टि के आदिकाल में ज्ञान के रूप में प्रकट हुई, उसी ईश्वरीय ज्ञान को हम ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद के रूप में जानते-मानते हैं।

व्यक्ति के ज्ञान में न्यूनता, भ्रान्ति व स्वार्थ की सम्भावना हो सकती है। परन्तु वेदों का ज्ञान पूर्ण व निर्भ्रान्त है।

अतः वेदों के मन्त्रों को ईश्वर का ज्ञान, आदेश, निर्देश व अपने जीवन का कर्त्तव्य मानकर पूरी प्रामाणिकता के साथ हमें वेदानुकूल आचरण ही करना चाहिये।

यों तो चारों वेदों में 20416 ऋचाएं हैं, सभी मन्त्र अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं फिर भी इतने मन्त्र सब याद नहीं कर सकते, न ही इतने मन्त्रों को समझने का सामर्थ्य सबमें है। अतः चारों वेदों व आध्यात्म विद्या के महान् ग्रन्थ उपनिषदों के कुछ अत्यन्त प्रेरणाप्रद महान् मन्त्रों या ऋचाओं को एक लघु पुस्तिका के रूप में हम प्रकाशित कर रहे हैं।

मुझे आशा है संगठन व आन्दोलन से जुड़े सभी कार्यकर्त्ता इन मंत्रों को अवश्य याद करेंगे तथा इन मन्त्रों के अनुरूप आचरण करके अपने जीवन को तो आदर्श बनायेंगे ही साथ ही एक आदर्श राष्ट्र के निर्माण में भी एक बहुत बड़ी भूमिका निभायेंगे।

(स्वामी रामदेव)

वेद मन्त्राः

1. **अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥**

–ऋग्० १/१/१

सृष्टि से पूर्व विद्यमान समस्त जीवों के हित के लिये रत्नगर्भा पृथ्वी को धारण करने वाले, समस्त पदार्थों और वेदज्ञान को प्रकाशित करने वाले, यज्ञ तथा परोपकारी मनुष्यों के रक्षक, सर्वव्यापक, शुद्धस्वरूप परमेश्वर की हम स्तुति और इच्छा करते हैं।

2. **यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि। तवेत्तत् सत्यमङ्गिरः॥**

–ऋग्० १/१/२

हे प्रभो! तू दानशील उपासक को जो भी कल्याणकारी पदार्थ देता है, वे सब वास्तव में तेरे ही हैं।

3. **उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम्। नमो भरन्त एमसि॥**

–ऋग्० १/१/५

हे परमेश्वर! हम ज्ञान-विज्ञान की प्राप्ति के लिये अपनी बुद्धि और कर्म से दिन-रात आपको नमस्कार करते हुए आपकी शरण में आते हैं।

4. **अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन्।**
   अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानोऽजस्रो घर्मो हविरस्मि नाम॥

–यजु० १८/ ६६

'मैं अग्नि हूँ, दहकता देदीप्यमान हुआ अङ्गारा हूँ, स्वभाव से ही जागरूक हूँ। मेरी आँख में तेज है, मेरे मुख में अमृत है। मैं सूर्य हूँ, शरीर, मन व आत्मा के तीन तेजों से युक्त हूँ, सारे भूमण्डल को अपने कदमों से माप लेने वाला हूँ, अक्षय हूँ, जलता हुआ यज्ञकुण्ड हूँ व आहुति हूँ।

5. **उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि॥**

–अथर्व० ८/१/६

हे नर, देख जीवन में सदा तेरी उन्नति ही होनी चाहिए, अधोगति नहीं, पतन नहीं, तेरे अन्दर मैं जीवन बल फूँकता हूँ। यह मनुष्य के लिए भगवान् का आदेश है।

6. **अपघ्नन्तो अराव्णः पवमानाः स्वर्दृशः।**
   योनावृतस्य सीदत॥ –ऋग्० ९/१३/९

आततायियों का विध्वंस करते हुए, पवित्रता का प्रचार करते हुए, ज्योति का दर्शन करते हुए तुम सत्य के मन्दिर में आसीन होवो।

7. **इन्द्रं वर्धन्तो अप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम्।**
   अपघ्नन्तो अराव्णः॥ –ऋग्० ९/६३/५

क्रियाशील बनो, प्रभु-महिमा का प्रचार करो, ऐश्वर्य को बढ़ाओ, विश्व को आर्य बनाओ, राक्षसों का संहार करो।

8. **कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।**
गोजिद् भूयासमश्वजिद् धनञ्जयो हिरण्यजित्॥ –अथर्व ७/५०/८

मैं हाथ पर हाथ धरकर बैठनेवाला नहीं हूँ। मेरे दाहिने हाथ में कर्म है और बाएँ हाथ में विजय रखी है। इस 'कर्म' रूपी जादू की छड़ी हाथ में लेते ही गौ, घोड़े, धन-धान्य, सोना-चाँदी जो चाहूँगा सो मेरे आगे हाथ बाँधकर खड़ा हो जाएगा।

9. **उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान् यज्ञेन बोधय।**
आयुः प्राणं प्रजां पशून् कीर्तिं यजमानं च वर्धय॥

–अथर्व० १९/६३/१

उठ खड़ा हो, जाग जा। ऐ ज्ञानी! यज्ञ द्वारा अपने अन्दर देवभावों को जगा ले। अपनी आयु को, प्राण को, प्रजा को, कीर्ति को बढ़ा पशुओं को बढ़ा, यज्ञ करनेवाले को बढ़ा।

हे नर! तू वीर बन, निरुत्साहित मत हो। यदि अचानक कभी क्षण दो क्षण हतोत्साहित हो जाए तो इस ऋचा को गुनगुना–

10. **यो जागार तमृचः कामयन्ते यो जागार तमु सामानि यन्ति।**
यो जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः॥

–ऋग्० ५/४४/१४

"जो जागा हुआ है, वही ऋचाओं से कुछ लाभ ले सकता है। जो जागा हुआ है, उसी की सामवेद के मन्त्र सहायता करते हैं। जो जागा हुआ है, उसी के आगे चाँद मैत्री के लिये हाथ पसारता है।" उसी की यह सारी प्रकृति दासी बनती है जो जागा हुआ है। इसलिए–

11. **आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः।**
देवा नो यथा सदमिद् वृधे असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवेदिवे॥

–ऋग्० १/८९/१

कल्याणकारी चिन्तन और कर्म करने वाले, अहिंसक और अदमनीय, सदा संगति योग्य और प्रगति के प्रेरक उत्कृष्ट विद्वान् हमें सब ओर से प्राप्त हों। ऐसे दीर्घजीवी दिव्य पुरुष सदैव हमारे रक्षक होकर प्रतिदिन हमारी वृद्धि के लिये ही कार्य करें।

12. **अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।**
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्॥

–ऋग्० १०/१२५/५

मैं ही (भागवत शक्ति) मनुष्यों और देवों से सेवित परमेश्वर का वर्णन करती हूँ। मेरी इच्छा से ही कोई बलवान, ज्ञानी, ऋषि और बुद्धिमान बन जाता है।

13. **नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।**
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥

–ऋग्० १०/१२९/१

(यह नासदीय सूक्त है जिसमें सृष्टि रचना से पूर्व की अवस्था का वर्णन है।) उस समय न तो असत् अभाव या शून्य था और न सत् अर्थात् व्यक्त जगत था न परमाणु थे, न आकाश और न

अन्य लोक-लोकान्तर। न कोई आवरण था और न कोई घर अर्थात निश्चित सीमायुक्त स्थान था। गहन जल (समुद्र) भी नहीं था। सब कुछ घने कुहांसे के समान था।

14. तम आसीत्तमसा गुळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम्॥

—ऋग्० १०/१२९/३

प्रलयकाल में केवल अन्धकार ही अन्धकार था। एक अव्यक्त प्रवाह था। सब कुछ अन्धकार से ढका हुआ था। सर्वत्र एक गतिशील तत्व व्याप्त था, जिसने अपने तप से प्रकट होकर इस दृश्यमान जगत् को प्रकट किया।

15. स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

—ऋग्० १/८९/६

अन्नादि पदार्थों और यश का भण्डार परमेश्वर हमें सुख दे। वह पुष्टिदाता सर्वज्ञ प्रभु हमें सुख शान्ति दे। वह दुःखनिवारक सुखों का केन्द्र, महान् शिल्पकार हमें सुख दे। वह ब्रह्माण्ड और वेदवाणी का स्वामी परमेश्वर हमें सुख-शान्ति प्रदान करे।

16. भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥ —ऋग्० १/८९/८

हे दानशील उपासक विद्वानों! हम कानों से सदा कल्याणकारी वचन सुनें। आंखों से सदा मंगलकारी दृश्य देखें। हृष्ट-पुष्ट शरीर तथा, दृढ़ अंगों से स्थिर मुद्रा में मन को एकाग्र करके उपासना करते हुये, विद्वानों, दानियों और गुणवानों के लिये हितकारी आयु (जीवन) प्राप्त करें।

17. उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्त्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥

—ऋग्० १०/७१/४

अनेक लोग इस वाणी को देखते या जानते हुए भी नहीं देखते या जानते और सुनते हुये भी नहीं सुनते, अर्थात इसका भाव नहीं समझते, किन्तु उत्तम बुद्धि और कर्मवालों के लिये यह इस प्रकार स्पष्ट हो जाती है, जिस प्रकार सुन्दर वस्त्रों से सुसज्जित कामना वाली पत्नी अपने प्रिय पति के लिये अपना रूप या शरीर खोल देती है।

18. सं समिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ।
इळस्पदे समिध्यसे स नो वसून्याभर॥ —ऋग्० १०/१९१/१

हे सुख की वर्षा वाले सर्वाधिपति प्रकाशस्वरूप परमेश्वर! आप समस्त तत्वों को सम्यक रूप से संयुक्त करके सृष्टि रचना करते हो। सम्पूर्ण जगत् और हृदय में प्रकाशमान हो। हमें सब प्रकार का धन प्रदान कीजिए।

19. सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे सं जानाना उपासते॥ —ऋग्० १०/१९१/२

हे मनुष्यों! सब मिलकर चलो, मिलकर बोलो और मिलकर मानसिक उन्नति करो। तुम्हारे मन मिले हुये, एकता के भाव से युक्त हों। जिस प्रकार पूर्व विद्वान् पुरुषों ने अपने-अपने उत्तरदायित्वों को पूर्ण करके विचारपूर्वक परमेश्वर की उपासना की, वैसे ही वर्तमान में भी करो।

20. समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥

—ऋग्० १०/१९१/३

सबके विचार समान हों। सभा-समितियाँ, सामूहिक जीवन की गतिविधियाँ समान हों। मन समान हों और चित्त सहयोगी और समान हों। परमेश्वर सबको समान विचारों वाले और समान वस्तुओं और पदार्थों से युक्त तथा समान यज्ञीय भावना से ओत-प्रोत करें।

21. समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥ —ऋग्० १०/१९१/४

सबकी संकल्पशक्ति और हृदय समान हों। सबके मन समान हों, जिससे सब परस्पर मिलकर सुखपूर्वक रहें।

22. सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥ —ऋग्० १०/९०/१

सहस्रों सिर, सहस्रों नेत्र और सहस्रों पग वाला परमात्मा इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को सब ओर से घेरे हुए है। वह दसों दिशाओं से परे है, दसों इन्द्रियों के भोग से पृथक् और इन्द्रियातीत है।

23. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥ —ऋग्० १०/९०/१२

ब्राह्मण इसके मुख से, क्षत्रिय बाहुओं से, वैश्य जंघाओं से और शूद्र पैरों से उत्पन्न हुये है। (यह विराट पुरुष समाज भी है जिसका मुख ब्राह्मण, हाथ क्षत्रिय, जंघायें वैश्य और पैर शूद्र हैं।)

24. चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत॥ —ऋग्० १०/९०/१३

उसकी मनशक्ति से या मन से चन्द्रमा, नेत्र से सूर्य, मुख से विद्युत और अग्नि तथा प्राण से वायु की उत्पत्ति हुई।

25. श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि॥ —ऋग्० १०/१५१/१

(श्रद्धया) श्रद्धा से (अग्निः) अग्नि (समिध्यते) प्रदीप्त होती है और (श्रद्धया) श्रद्धा से ही (हविः हूयते) हवि दी जाती है, आत्म बलिदान किया जाता है। (भगस्य) सब भजनीय वस्तु के, भागधेय धर्म के, ऐश्वर्य के (मूर्धनि) मूर्धास्थान में, (श्रद्धा) श्रद्धा को हम लोग (वचसा) वाणी द्वारा, वेद वाणी द्वारा (वेदयामसि) घोषित करते हैं, प्रकट करते है।

26. श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः॥ —ऋग्० १०/१५१/५

हम प्रातः मध्याह्न और सायंकाल श्रद्धापूर्वक उपासना करें। श्रद्धा का आह्वान करें। वह प्रभु हमें श्रद्धावान् करे।

27. अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्॥

–ऋग्० १०/१२५/३

मैं लोकों को परस्पर सम्बद्ध करने वाली, धनों को व्यवस्थित या प्रदान करने वाली, विश्वनियामक शक्ति या प्रजाओं को संगठित करने वाली राष्ट्र शक्ति हूँ। मैं ज्ञानसम्पन्न, सर्वप्रथम पूजनीय और चिन्तनीय हूँ। सर्वत्र विद्यमान और विविध रूपों से प्रकट मुझ दिव्य शक्ति का वर्णन विद्वान् लोग अनेक प्रकार से करते हैं।

28. शिरो मे श्रीर्यशो मुखं त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि।
राजा मे प्राणो अमृतꣳसम्राट् चक्षुर्विराट् श्रोत्रम्॥ –यजु. २०/५

मेरे सिर मे बड़े-बड़े ज्ञान-विज्ञान का ऐश्वर्य भरा है, चेहरे पर यशस्विता छाई है, केश और श्मश्रुओं से दीप्ति फूटी पड़ रही है। मेरा प्राण-राजा अमर है, मेरी आंख सम्राट् के तुल्य है, मेरा श्रोत्र विराट् शक्ति से सम्पन्न है।

29. अश्मन्वती रीयते सं रभवीरयध्वं प्र तरता सखायः।
अत्रा जहीत ये असन् दुरेवा अनमीवानुत्तरेमाभि वाजान्॥

–अथर्व. १२/२/२६

उठो मित्रों! देखो! वह सामने अनेक विघ्न-बाधाओं के पत्थरों से भरी संसार की दुस्तर नदी वेग से बहती चली आ रही है। उठो तैयार हो जाओ, एक-दूसरे का हाथ पकड़ लो, मिलकर उद्यम करो और उसे पार कर जाओ। जो खोटी चालें हैं, उन्हें यहीं छोड़ दो। आओ विघ्न-बाधाओं की इस भयंकर नदी के पार उतरकर रोग-रहित ऐश्वर्य सुख का उपभोग करें।

30. आ त एतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे।
ज्योक् च सूर्यं दृशे॥ –ऋग्० १०/५७/४

पुनः तेरे अन्दर मनोबल संचरित हो जाये, ताकि तू कर्म कर सके, बली बने जीवित-जागृत होकर रहे और चिरञ्जीवि होकर चिरकाल तक सूर्योदय के रमणीक दृश्य को देखता रहे।

31. अनुव्रतः पितुः पुत्रो माता भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्॥ –अर्थव. ३/३०/२

(पुत्रः) पुत्र (पितुः) पिता का (अनुव्रतः) अनुव्रत हो अर्थात् उसके व्रतों को पूर्ण करे। पुत्र (मात्रा) माता के साथ (संमनाः) उत्तम मनवाला (भवतु) हो अर्थात् माता के मन को सन्तुष्ट करने वाला हो। (जाया) पत्नी को चाहिए के वह (पत्ये) पति के साथ (मधुमतीम्) मीठी और (शन्तिवाम्) शान्तिप्रद (वाचम्) वाणी (वदतु) बोले।

32. अन्ति सन्तं न जहात्यन्ति सन्तं न पश्यति।
देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति॥ –अर्थव. १०/८/३२

(देवस्य) परमात्मा के (काव्यम्) काव्य को (पश्य) देखो। (अन्ति सन्तम्) वह इतना निकट है कि (न जहाति) कोई उसको छोड़ नहीं सकता। (अन्ति सन्तम्) वह इतना निकट है कि (न पश्यति) कोई उसे देख नहीं सकता। फिर भी ईश्वर का वह काव्य (न ममार) न कभी मरता है (न जीर्यते) न जीर्ण होता है।

33. इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा।
शिक्षाणो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि॥

–ऋग्० ७/३२/२६

(पुरुहूत इन्द्र) विश्व के प्राणियों द्वारा उपासनीय परमात्मन्! (नः क्रतुम्) हमारे यज्ञ से कर्त्तव्य क्षेत्र को (आभर) साधन आदि सामग्री से युक्त कीजिए अर्थात् हमें ऐसा सम्पन्न बनाइए कि हम यज्ञ कर सकें। (पिता पुत्रेभ्यः यथा) जैसे पिता अपने पुत्रों के कर्त्तव्यक्षेत्र को सुसंपादित करता है। (शिक्षाणः-शिक्ष नः) हमको शिक्षा दीजिए। (अस्मिन् यामनि) इस अवसर पर (जीवाः) हम जीव लोग (ज्योतिः) प्रकाश को (अशीमहि) प्राप्त करना चाहते हैं।

34. ईशा वास्यमिदꣳसर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥ –यजु. ४०/१

जगत् में जो कुछ स्थावर-जंगम संसार है, वह सब ईश्वर द्वारा आच्छादनीय है (अर्थात् उसे भवगत्स्वरूप अनुभव करना चाहिये)। उसके त्याग-भाव से तू अपना पालन कर; किसी के धन की इच्छा मत कर।

35. ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्त इमे समासते॥

–ऋग्० १/१६४/३९

(ऋचः) ऋक् आदि वेदों के (द्वारा प्रतिपादित) अक्षरे कभी नाश को प्राप्त न होने वाले (परमे) सबसे बड़े (व्योमन्-व्योम्नि) आकाश के समान व्यापक (यस्मिन्) जिस ब्रह्म में (विश्वे देवाः) सब दिव्य आत्मा, विद्वान् शक्तियाँ व पदार्थ स्थित हैं। उस ब्रह्मा को (यः) जो पुरुष (न वेद) नहीं पहचानता वह (ऋचा) वेद से (किम् करिष्यति) क्या लाभ उठा सकता है? अर्थात् उसके लिए वेद बेकार चीज हैं। परन्तु (ये) जो लोग (तत्) उस ब्रह्म को (इत्) भलीभांति (विदुः) पहचानते हैं (त इमे) ऐसे वे लोग (समासते=सं आसते) अच्छी स्थिति में रहते हैं।

36. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥

–ऋग्० १/१६४/२०

(द्वौ सुपर्णौ) दो सुन्दर पक्षी (सयुजौ) जो सहयोगी हैं (सखायौ) और परस्पर मित्र हैं (समानम् वृक्षम्) एक ही वृक्ष के ऊपर (परिषस्वजाते) एक-दूसरे के समीप ही स्थित हैं। (तयोः) इन दोनों में (अन्यः) एक (पिप्पलम्) इस वृक्ष के फल को (स्वादु अत्ति) मजे से खाता है, (अन्यः) और दूसरा पक्षी (अन्-अश्नन्) न खाता हुआ (अभि चाकशीति) अध्यक्षता का काम करता है।

37. **यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।**
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च।
प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः
समृद्ध्यतामुप मादो नमतु॥ –यजु. २६/२

मैं ईश्वर (यथा) जैसे (इमाम् कल्याणीम् वाचम्) इस कल्याणप्रद वेदवाणी को (जनेभ्यः) सब मनुष्यों के लिये (आवदानि) सम्यक् रीति से कहता हूँ अर्थात् (ब्रह्मराजन्याभ्याम्) ब्राह्मण-क्षत्रिय दोनों के लिये (शूद्राय च अर्याय च) शूद्र के लिये और वैश्य के लिये (स्वाय चारणाय च) अपने आदमी के लिये और पराये अर्थात् शत्रु के लिये, उसी प्रकार मनुष्य मात्र को मेरे इस कार्य का अनुकरण करना चाहिए। ऐसा कर्त्तव्य पालन करने वाला मनुष्य ऐसी प्रार्थना कर सकेगा कि (देवानाम् प्रियः भूयासम्) मैं देवों का प्रिय हो जाऊँ।

38. **विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे।**
इन्द्रस्य युज्यः सखा॥ –ऋग्० १/२२/१९

हे लोगों! (विष्णोः) विष्णु के (कर्माणि) कर्मों को (पश्यत) देखो, (यतः) जिन (कर्मों को) देखकर मनुष्य अपने (व्रतानि) व्रतों को (पस्पशे) पालन करने में सफल होता है। विष्णु (इन्द्रस्य) अच्छे व्यक्ति का (युज्यः) सबसे योग्य (सखा) या मित्र है।

39. **सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।**
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥ –अर्थव. ३/३०/१

मैं (वः) तुमको (सहृदयम्) हृदयवाला (सांमनस्यम्) मनवाला और (अविद्वेषम्) द्वेषरहित (कृणोमि) बनाता हूँ। (अन्यः) एक मनुष्य (अन्यम्) दूसरे मनुष्य के साथ (अभिहर्यत) ऐसा व्यवहार करे (इव) जैसे (अघ्न्या) गाय (जातम्) नव-उत्पन्न (वत्सम्) बछड़े के साथ करती है।

40. **सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमकृत।**
अत्रा सखायाः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि॥

–ऋग्० १०/७१/२

जैसे (तितउना) चलनी में छानकर (सक्तुम् इव) सत्तू को साफ किया जाता है, उसी प्रकार (यत्र) जिस विषय में (धीराः) बुद्धिमान लोग (मनसा) ज्ञानरूपी चलनी द्वारा (वाचम्) वाणी को (पुनन्तः) शुद्ध करके (अकृत) प्रयोग करते हैं (अत्र) वहाँ (सखायः) हितैषी विद्वान् लोग (सख्यानि) हित की बातों को (जानते) समझते हैं। (एषाम् वाचि) उनकी वाणी में (भद्रा लक्ष्मीः) कल्याणप्रदा लक्ष्मी (अधि निहिता) रहती है।

41. **स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्य्याचन्द्रमसाविव।**
पुनर्ददताघ्नता जानता संगमेमहि॥ –ऋग्० ५/५१/१५

हम लोग (स्वस्ति पन्थाम्) कल्याणकारी मार्ग पर (अनुचरेम) चलें, (सूर्य्याचन्द्रमसौ इव) जैसे सूर्य और चन्द्रमा चलते हैं। (पुनः) और (ददता) आदान-प्रदान करने वाले के साथ, (अघ्नता) हिंसा न करने वाले के साथ, (जानता) एक-दूसरे के दृष्टिकोण को समझने वाले के साथ (संगमेमहि) संगति करें।

42. **'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।**
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ –यजु. ३१/१८

प्र०–किस पदार्थ को जानके मनुष्य ज्ञानी होता है? उ०–उस परमेश्वर ही को यथावत् जानकर ठीक-ठीक ज्ञानी होता है, अन्यथा नहीं। जो सबसे बड़ा, सबका प्रकाश करनेवाला और अविद्या अन्धकार अर्थात् अज्ञान आदि दोषों से अलग है, उसी पुरुष को मैं परमेश्वर और इष्टदेव जानता हूँ। उसको जाने बिना कोई मनुष्य यथावत ज्ञानवान् नहीं हो सकता। क्योंकि (तमेव विदित्वा०) उसी परमात्मा को जानकर और प्राप्त होकर जन्म-मरण आदि क्लेशों के समुद्र समान दुःख से छूटकर परमानन्दस्वरूप मोक्ष को प्राप्त होता है, अन्यथा किसी प्रकार से मोक्षसुख नहीं हो सकता। इससे क्या सिद्ध हुआ कि उसी की उपासना सब मनुष्य लोगों को करनी उचित है। उससे भिन्न की उपासना करना किसी मनुष्य को न चाहिये। क्योंकि मोक्ष को देनेवाला एक परमेश्वर के बिना दूसरा कोई भी नहीं है। इसमें यह प्रमाण है कि व्यवहार और परमार्थ के दोनों सुख का मार्ग एक परमेश्वर की उपासना और उसका जानना ही है। क्योंकि इसके बिना मनुष्य को किसी प्रकार से सुख नहीं हो सकता।

43. **'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।**
दिवीव चक्षुराततम्॥ –यजु. ६/५

(विष्णोः) अर्थात् व्यापक जो परमेश्वर है उसका (परमम्) अत्यन्त उत्तम आनन्द स्वरूप (पदम्) जो प्राप्ति होने के योग्य अर्थात् जिसका नाम मोक्ष है, उसको (सूरयः) विद्वान् लोग (सदा पश्यन्ति) सबकाल में देखते हैं। वह कैसा है? सब में व्याप्त हो रहा है, और इस देश काल और वस्तु में है और इस वस्तु में नहीं (ऐसा भेद नहीं है) इसी कारण से वह पद सब जगह में सबको प्राप्त होता है। क्योंकि वह ब्रह्म सब ठिकाने में परिपूर्ण है। इसमें यह दृष्टान्त है कि (दिवीव चक्षुराततम्) जैसे आकाश में व्याप्त सूर्य के प्रकाश में नेत्र की दृष्टि व्याप्त होती है, इसी प्रकार परब्रह्म पद भी स्वयंप्रकाश, सर्वत्र व्याप्तवान् हो रहा है। उस पद की प्राप्ति से कोई भी प्राप्ति उत्तम नहीं है। इसलिये चारों वेद उसी की प्राप्ति कराने के लिये विशेष करके प्रतिपादन कर रहे हैं।

44. **'दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सन्यानृते प्रजापतिः।**
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धाᳬ सत्ये प्रजापतिः॥ –यजु. १९/७७

(प्रजापतिः) सब जगत् का अध्यक्ष जो ईश्वर है, सो (सत्यानृते) सत्य जो धर्म और असत्य जो अधर्म है, जिनके प्रकट और गुप्त लक्षण है। (व्याकरोत्) उनको ईश्वर ने अपनी सर्वज्ञ विद्या से ठीक-ठीक विचार से देखकर सत्य और झूठ को अलग-अलग किया है। सो इस प्रकार से है कि (अश्रद्धाम्) हे मनुष्य लोगों! तुम सब दिन अनृत अर्थात् झूठ अन्याय के करने में अश्रद्धा अर्थात प्रीति कभी मत करो। वैसा ही (श्रद्धां स.) सत्य अर्थात् जो वेदशास्त्रोक्त, और जिसकी प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से परीक्षा की गई हो, या की जाय, वही पक्षपात से अलग न्यायरूप धर्म है, उसके आचरण में सब दिन प्रीति रखो और जो-जो तुम लोगों के लिये मेरी आज्ञा है, उस-उस में अपने आत्मा प्राण और मन को सब पुरुषार्थ तथा कोमल स्वभाव से युक्त करके सदा सत्य ही में प्रवृत्त करो।

45. **दृते दृᳬह मा मित्रस्य मा? चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।**
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥

–यजु. ३६/१८

(दृते०) हे सब दुःखों के नाश करने वाले परमेश्वर! आप हम पर ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे हम लोग आपस में वैर को छोडकर एक दूसरे के साथ प्रेमभाव से बरते। (मित्रस्य मा०) और सब प्राणी मुझको अपना मित्र जानकर बन्धु के समान बरतें। ऐसी इच्छा से युक्त हम लोगों को (दृꣳह) सत्य सुख और शुभगुणों से सदा बढ़ाइये। (मित्रस्याह०) इसी प्रकार से मैं भी सब मनुष्यादि प्राणियों को अपना मित्र जानू, और हानि-लाभ, सुख और दुःख में अपने आत्मा के समतुल्य ही सब जीवों को मानू। (मित्रस्य च०) हम सब लोग आपस में मिलके सदा मित्रभाव रखें, और सत्यधर्म के आचरण के सत्य सुखों को नित्य बढ़ावें। जो ईश्वर का कहा धर्म है, यही एक सब मनुष्यों को मानने के योग्य है।

46. अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि॥ –यजु. १/५

हे सत्यपते परमेश्वर! (व्रतम्) मैं जिस सत्यधर्म का अनुष्ठान करना चाहता हूँ, उसकी सिद्धि आपकी कृपा से ही हो सकती है। इसी मन्त्र का अर्थ शतपथब्राह्मण में भी लिखा है कि–"जो मनुष्य सत्य के आचरणरूप व्रत को करते हैं वे 'देव' कहाते हैं, और जो सत्य-असत्य का आचरण करते हैं उनको मनुष्य कहते हैं।" इससे मैं उस सत्यव्रत का आचरण करना चाहता हूं। (तच्छकेयम्) मुझ पर आप ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे मैं सत्यधर्म का अनुष्ठान पूरा कर सकूं। (तन्मे राध्यताम्) उस अनुष्ठान की सिद्धि करनेवाले एक आप ही हो। सो कृपा करके सत्यरूप धर्म के अनुष्ठान को सदा के लिये सिद्ध कीजिये। (इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि) सो यह व्रत है कि जिसको मैं निश्चय से चाहता हूं। उन सब असत्य कार्यों से छूटके सत्य के आचरण करने में सदा दृढ़ रहूं।

47. व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥ –यजु. १९/३०

(व्रतेन०) जो मनुष्य सत्य के आचरण का दृढ़ता से पालन करता है, तब वह दीक्षा अर्थात् उत्तम अधिकार के फल को प्राप्त होता है। (दीक्षयाप्नोति०) जब मनुष्य उत्तमगुणों से युक्त होता है, तब सब लोग सब प्रकार से उसका सत्कार करते हैं। क्योंकि धर्म आदि शुभगुणों से ही उस दक्षिणा को मनुष्य प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं। (दक्षिणा श्र०) जब ब्रह्मचर्य आदि सत्य व्रतों से अपना और दूसरे मनुष्यों का अत्यन्त सत्कार होता है, तब उसी में दृढ़ विश्वास होता है। क्योंकि सत्यधर्म का आचरण ही मनुष्यों का सत्कार कराने वाला है। (श्रद्धया०) फिर सत्य के आचरण में जितनी-जितनी अधिक श्रद्धा बढ़ती जाती है, उतना-उतना ही मनुष्य लोग व्यवहार और परमार्थ के सुख को प्राप्त होते जाते हैं, अधर्माचरण से नहीं। इससे क्या सिद्ध हुआ, कि सत्य की प्राप्ति के लिये सब दिन श्रद्धा और उत्साह आदि पुरुषार्थ को मनुष्य लोग बढ़ाते ही जायें, जिससे सत्यधर्म की यथावत् प्राप्ति हो।

48. आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रिस्तिस्त्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥

–अथर्व. ११/५/३

(आचार्य उ०) अर्थात् जो गर्भ में बसके माता और पिता के सम्बन्ध से मनुष्य का जन्म होता है, वह प्रथम जन्म कहलाता है। और दूसरा यह है कि जिसमें आचार्य पिता और विद्या माता होती है। इस दूसरे जन्म के न होने से मनुष्य का मनुष्यपन प्राप्त नहीं होता। इसलिये उसको प्राप्त होना

मनुष्यों को अवश्य चाहिये। जब आठवें वर्ष पाठशाला में जाकर आचार्य अर्थात विद्या पढ़ानेवाले के समीप रहते हैं, तभी से उनका नाम ब्रह्मचारी वा ब्रह्मचारिणी हो जाता है। क्योंकि वे ब्रह्म वेद और परमेश्वर के विचार में तत्पर होते हैं। उनको आचार्य तीन रात्रि पर्यन्त गर्भ में रखता है, अर्थात् ईश्वर की उपासना, धर्म, परस्पर विद्या के पढ़ने और विचारने की युक्ति आदि जो मुख्य-मुख्य बाते हैं, वे सब तीन दिन में उनको सिखाई जाती है। जब वह विद्या में निपुण हो जाता है, तब देव विद्वान् लोग उसको देखने के लिये आते हैं, और प्रसन्नता से उसका सत्कार करते हैं। हमारे मध्य में महाभाग्य के उदय और ईश्वर के अनुग्रह से सब मनुष्यों के उपकार के लिये तुम विद्वान हुए, इस प्रकार उसकी प्रशंसा करते हैं।

49. ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्य्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते॥ –अर्थव. ११/५/१७

(ब्रह्मचर्येण त०) पूर्ण ब्रह्मचर्य से विद्या पढ़कर और सत्यधर्म के अनुष्ठान से राजा राज्य करने को और आचार्य विद्या पढ़ाने को समर्थ होता है। आचार्य उसको कहते हैं कि जो असत्याचार को छुड़ाकर सत्याचार का और अनर्थों को छुड़ाके अर्थों का ग्रहण कराके ज्ञान को बढ़ा देता है।

50. ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्य्येण देवेभ्यः स्वराभरत्॥ –अर्थव. ११/५/१९

(ब्रह्मचर्येण त०) ब्रह्मचर्य और धर्मानुष्ठान से ही विद्वान् लोग जन्म-मरण को जीतकर मोक्ष सुख को प्राप्त हो जाते हैं। जैसे इन्द्र अर्थात् सूर्य परमेश्वर के नियम में स्थित होकर सब लोकों का प्रकाश करनेवाला हुआ है, वैसे ही मनुष्य का आत्मा ब्रह्मचर्य से प्रकाशित होकर सबको प्रकाशित कर देता है। इससे ब्रह्मचर्याश्रम ही सब आश्रमों से उत्तम है।

51. ओ३म् मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसन्दृशः॥ –अर्थव. १/३४/३

(मे) मेरा (निक्रमणं) निकट जाना, प्रवृत्ति (मधुमत्) माधुर्यमय होवे तथा (मे) मेरा (परायण) दूर हटना, निवृत्ति भी (मधुमत्) माधुर्यपूर्ण होवे। मैं (वाचा) वाणी से (मधुमत्) माधुर्ययुक्त ही (वदामि) बोलता हूँ इसलिये (हे मधुस्वरूप) मैं (मधुसन्दृशः) मधुरूप था सर्वत्र मधु को ही देखने वाला (भूयासम्) हो जाऊँ।

52. ओ३म उदगादयमादित्यो विश्वेन सहसा सह।
द्विषन्तं मह्यं रन्धयन् मो अहं द्विषते रधम्॥ –अर्थव. १७/१/२४

देखो, (अयम्) यह (आदित्यः) आदित्य, परमसूर्य (मह्यम्) मेरे लिये (द्विषन्तम्) शत्रु को, दुष्ट अत्याचारी शत्रु को (रंधयन्) नाश करता हुआ, वशवर्ती करता हुआ (विश्वेनसहसासह) अपने सम्पूर्ण तेज व बल के साथ (उद्अगात) उदित हुआ है, इसलिये (अहं) मैं (द्विषते) शत्रु की (मो) मत (रधं) हिंसा करूं, शत्रु के वशवर्ती न होऊं।

53. जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधुलकम्।
ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि॥ –अर्थव. १/३४/२

(मे) मेरी (जिह्वायाः अगे) जिहवा के अग्रभाग में (मधु) मिठास होवे और (जिह्वामूले) जिह्वा

के मूल में (मधुलकम्) और भी अधिक मिठास, मिठास का झरना होवे। हे मधु! तू (इत् अह) अवश्य ही (मम) मेरे (चित्तं) अन्तःकरण के चित्त प्रदेश तक (उपायसि) पहुंच जा, व्याप्त हो जा।

54. ओ३म दृष्ट्वां रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृते दधात् श्रद्धां सत्ये प्रजापतिः॥ –ऋग्० १९/७७

(प्रजापतिः) प्रजापति ने (दृष्टवा) देखकर (रूपे) सब रूपों को दो विभागों में (सत्यानृते) सत्य और अनृत सच्चा और झूठा इन दो विभागों में (व्याकरोत्) स्पष्ट जुदा-जुदा कर दिया है। (प्रजापतिः) उस प्रजापति ने (अनृते) अनृत में, झूठ में (अश्रद्धां) अश्रद्धा को (दधात्) रखा है और (सत्ये) सत्य में, सच्चाई में (श्रद्धां) श्रद्धा को रखा है।

55. ओ३म् सख्ये त इन्द्र वाजिनो माभेम शवसस्पते।
त्वामभि प्रणोनुमो जेतारमपराजितम्॥ –साम. म. ८२८

(शवसस्पते) हे बल के स्वामी (इन्द्र) परमेश्वर! (ते) तेरी (सख्ये) मित्रता में आकर (वाजिनः) बल, ज्ञान से युक्त हुए हम (मा भेम) अब भयभीत ना होवें, निर्भय हो जावें। (जेतार) सदा जीतने वाले (अपराजितम्) कभी भी पराजित न हो सकने वाले (त्वा) तेरे (अभिप्रणोनुमः) हम बार-बार सर्वप्रकार स्तुतिगान करते हैं।

56. पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥ –ऋग्० १०/१०/२

पुरुष ही वह सब है जो अब है, जो हुआ है और जो अभी होने को है। वह अमरता का स्वामी है और जो कुछ अन्न से बढ़ता है वह वही है।

56. ओ३म् कस्त्वा युनक्ति स त्वा युनक्ति कस्मै त्वा युनक्ति तस्मै त्वायुनक्ति। कर्मणे वां वेषाय वाम्॥ –यजु. १/६

कः=कौन सुख स्वरूप त्वा=तुझको अच्छी-अच्छी क्रियाओं के सेवन करने के लिये युनक्ति=आज्ञा देता है। सः=वो जगदीश्वर त्वा=तुमको विद्या आदि शुभगुणों के प्रकट करने के लिये विद्वान वा विद्यार्थी होने के लिये युनक्ति= आज्ञा देता है। कस्मै=वह किस-किस प्रयोजन के लिये त्वा= तुझको युनक्ति=युक्त करता है तस्मै=पूर्वोक्त सत्यव्रत के आचरण रूप यज्ञ के लिये त्वा=धर्म के प्रचार करने में उद्योगी को युनक्ति=आज्ञा देता है सः=वही ईश्वर कर्मणे=उक्त श्रेष्ठ कर्म के लिये वाम्=कर्म करने और कराने वालों को नियुक्त करता है वेषाय=शुभ गुण और विद्याओं में व्याप्ति के लिये वाम्=विद्या पढ़ने और पढ़ाने वाले तुम लोगों को उपदेश करता है।

57. त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्।
यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नोऽअस्तु त्र्यायुषम्॥ –अर्थव. ५/२८/७

हे जगदीश्वर! आप यत्= जो देवेषु=विद्वानों के वर्तमान में त्र्यायुषम्=ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास आश्रमों का परोपकार से युक्त आयु वर्त्तता जो जमदग्नेः=चक्षु आदि इन्द्रियों का त्र्यायुषम्=शुद्धि, बल और पराक्रमयुक्त तीन गुणा आयु और जो कश्यपस्य=ईश्वरप्रेरित, त्र्यायुषम्=तिगुनी अर्थात् तीनसौ वर्ष से अधिक आयु विद्यमान है तत्=उस शरीर, आत्मा और समाज को आनन्द देने वाले त्र्यायुषम्=तीन सौ वर्ष से अधिक आयु को नः हम लोगों को प्राप्त कराइये।

58. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ –यजुः० ४०/२

इस लोक में कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करें। इस प्रकार मनुष्यत्व का अभिमान रखने वाले तेरे लिये इसके सिवा और कोई मार्ग नहीं है, जिससे तुझे अभुश कर्म का लेप न हो।

59. असूर्या नाम ते लोकाऽअन्धेन तमसावृताः।
ताँस्ते प्रेत्यापिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥ –यजु. ४०/३

वे असुर सम्बन्धी लोक आत्मा के अदर्शनरूप अज्ञान से आच्छादित हैं। जो कोई भी आत्मा का हनन करने वाले लोग हैं, वे मरने के अनन्तर उन्हें प्राप्त होते हैं।

60. तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥ –यजु. ४०/५

वह आत्मतत्व चलता है और नहीं भी चलता। वह दूर है और समीप भी है। वह सबके अर्न्तगत है और वही इस सबके बाहर भी है।

61. यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति॥ –यजु. ४०/६

जो (साधक) सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में ही देखता है और समस्त भूतों में भी आत्मा को ही देखता है, वह इस (सार्वात्म्यदर्शन) के कारण ही किसी से घृणा नहीं करता।

62. यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥ –यजु. ४०/७

जिस समय ज्ञानी पुरुष के लिये सब भूत आत्मा ही हो गये, उस समय एकत्व देखने वाले उस विद्वान को क्या शोक और क्या मोह हो सकता है।

63. स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ –यजु. ४०/८

वह आत्मा सर्वगत, शुद्ध, अशरीरी, अक्षत, स्नायु से रहित, निर्मल, अपापहत, सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ, सर्वोत्कृष्ट और स्वयंभू (स्वयं ही होने वाला) हैं उसी ने नित्य सिद्ध संवत्सर नामक प्रजापतियों के लिये यथा योग्य रीति से अर्थों (कर्त्तव्यों अथवा पदार्थों) का विभाग किया है।

64. सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳसह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते॥ –यजु. ४०/११

जो 'संभूति' अर्थात् समष्टि–वाद तथा विनाश अर्थात् व्यक्तिवाद इन दोनों को एक साथ जानते हैं वे व्यक्तिवाद से मृत्यु के प्रवाह को पार करते हैं और समष्टिवाद से अमृतत्व को प्राप्त करते हैं।

65. अन्धन्तमः प्र विशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूयऽइव ते तमो यऽउ विद्यायाꣳरताः॥ –यजु. ४०/१२

जो अविद्या अर्थात् भौतिकवाद की उपासना करते हैं वे गहन अन्धकार में जा पहुंचते हैं और जो केवल विद्या अर्थात् अध्यात्मवाद में रत रहते हैं, भौतिक जगत् की परवाह ही नहीं करते वे उससे भी गहरे अन्धकार में जा पहुंचते हैं।

66. विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳसह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥ –यजु. ४०/१४

जो विद्या और अविद्या इन दोनों को ही साथ जानता है, वह अविद्या से मृत्यु को पार करके विद्या से अमरत्व प्राप्त कर लेता है।

67. हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म॥ –यजु. ४०/१७

आदित्यमण्डलस्थ ब्रह्म का मुख ज्योतिर्मय पात्र से ढका हुआ है। हे पूषन्! मुझ सत्यधर्मा को आत्मा की उपलब्धि कराने के लिये तू उसे उघाड़ दे।

68. वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳशरीरम्।
ओ३म् क्रतो स्मर। क्लिबे स्मर। कृतꣳस्मर॥ –यजु. ४०/१५

अब मेरा प्राण सर्वात्मक वायुरूप सूत्रात्मा को प्राप्त हो और यह शरीर भस्मशेष हो जाये। हे मेरे संकल्पात्मक मन! अब तू स्मरण कर, अब तू स्मरण कर, अपने किये हुए स्मरण कर।

69. वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।
तस्मिन्निदꣳ स च वि चैति सर्वꣳ सऽओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु॥

यजु. अ. २२ मं. ८

1. 'वेन' शब्द वेन् धातु से बना है। इसके अर्थ हैं (क) क्रियाशील– To go, to move (ख) ज्ञान प्राप्त करने वाला–to know (ग) प्रभु का पुजारी–to worship एवं वेनः= क्रियाशील, ज्ञानी, प्रभुभक्त व्यक्ति तत्=उस प्रभु को पश्यत्=देखता है। प्रभु के दर्शन के लिये 'कर्म, ज्ञान व भक्ति' का समन्वय आवश्यक है। 2 वेन उस प्रभु को देखता है जो गुहा निहितम्=हृदयरूप गुहा में निहित हैं। प्रभु तक वही पहुंचता है जो अन्नमय, प्राणमय, मनोमय व विज्ञानमयकोशों को पार करके आनन्दमयकोश में पहुंचता है। यही अन्तर्मुख यात्रा हमें प्रभु तक ले जाती है। वे प्रभु गुहा में विचरनेवाले हैं। उनको ढूंढने के लिये हमें कहीं बाहर थोड़े ही भटकना है? 3. सत्=वे प्रभु सत् हैं। यद्यपि प्रकृति व जीव भी सत् हैं तथापि प्रकृति सदा विकृत होती रहती है और जीव भी विविध शरीरों को धारण करता है और इस प्रकार इनमें परिवर्तन है, प्रभु एकरस, निर्विकार सत् ही सत् हैं। 'सत्' शब्द की भावना यह है कि हम प्रभु को मिलने जाते हैं तो वे सदा सत्=उपस्थित होते हैं उनके अनुपस्थित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। वे सर्वव्यापक हैं, मेरे जाने की देर हैं, जाऊंगा दरवाजा थपथपाऊंगा तो प्रभु मिलेंगे ही, दरवाजा खुलेगा ही। 4. ये प्रभु वे हैं यत्र=जिनमें विश्वम्=यह सारा संसार एकनीडम्=एक घोंसलेवाला भवति=होता है। जैसे एक घर में परस्पर प्रेम का अनुभव होता है, इसी प्रकार प्रभु का अनुभव करने पर यह सारी वसुधा एक परिवार प्रतीत होने लगती हैं, हम सब उस प्रभु के ही तो पुत्र हैं। 5. तस्मिन्=उस प्रभु में इदं सर्वम्=यह सारा जगत् प्रलयकाल के समय सम् एति=समा जाता है च=और सृष्टिकाल में विएति=विविध रूपों में गति करने लगता है। प्रलय में भी कारणरूप प्रकृति का आधार प्रभु है और सृष्टि में भी सब लोक–लोकान्तरों का आधार वे प्रभु ही हैं। 6. सः=वे प्रभु ओतः च प्रोतः च= इस संसार में ओत–प्रोत हैं। संसार–वस्त्र के वे प्रभु ही ताने–बाने के सूत्र हैं। वे प्रभु प्रजासु=सब प्रजाओं के अन्दर विभूः=व्याप्त होकर रह रहे हैं।

प्रभु त्र्यम्बक है। 'त्रीणि अम्बकानि नेत्राणि यस्य'=यह विग्रह की परिपाटी चली आ रही है। इस 'त्रीणि अम्बकानि यस्मै' इस रूप में कर दें तो अर्थ का सौन्दर्य बढ़ जाता है। उस प्रभु को देखने के लिये 'कर्म, ज्ञान व भक्ति' रूप तीन आंखें हैं।

भावार्थ—प्रभु-दर्शन के लिये ज्ञान, क्रिया व भक्ति का समुच्चय आवश्यक है। वे प्रभु हृदय में ही निहित हैं, सर्वव्यापक हैं।

70. सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु॥

—अर्थव. १२/१/१

(बृहत् सत्यम्) व्यापी सत्य, (उग्रम् ऋतम्) कड़े नियम (दीक्षा) समग्र पृथिवी की सेवा के लिये व्रतग्रहण, (तपः) तपश्चर्या का जीवन, (ब्रह्म) शासन में ब्राह्मणत्व का प्राधान्य तथा आस्तिकता, (यज्ञः) द्रव्ययज्ञ तथा दिव्यजनों की पूजा, उन का सत्संग, तथा त्यागभावना (पृथिवीम्) समग्र पृथिवी का (धारयन्ति) धारण करते हैं। (सा) वह पृथिवी (नः) हमारे (भूतस्य, भव्यस्य) भूत और भविष्य का (पत्नी) निर्माण करती है। (पृथिवीः नः) पृथिवी हमारे लिये (उरुम् लोकम्) विस्तृत प्रदेश प्रदान करें।

71. वाजस्येमं प्रसवः सुषुवेऽग्रे सोमꣳराजानमोषधीष्वप्सु।
ताऽअस्मभ्यं मधुमतीर्भवन्तु वयꣳराष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः स्वाहा॥

—यजु. अ. ९ मं. २३

1. इमं सोमं राजानम्=इस सौम्य गुणयुक्त अथवा सोमशक्ति-सम्पन्न राजा को, अग्रे=सबसे प्रथम ओषधीषु अप्सु=ओषधियों व जलों का ही खान-पान करने पर, अर्थात् भोजन में मद्य-मांसादि का प्रवेश न होने पर, वाजस्य=शक्ति व ज्ञान का प्रसवः=उत्पादन सुषुवे=ऐश्वर्ययुक्त करता है, अर्थात् सात्त्विक भोजन से सौम्यता बनी रहती है और शक्ति व ज्ञान में वृद्धि होती है। 2. ताः= वे ओषधियाँ व जलों के खान-पान से हमारे मनों और व्यवहार में माधुर्य हो। 3. वयं पुरोहिताः=हम पुरोहित राष्ट्रे= राष्ट्र में जागृयाम=सदा जागरूक रहें। ज्ञान-प्रकाश फैलाने का कार्य इन पर ही निर्भर है। ये सो जाएँ, तो राष्ट्र में अन्धकार ही अन्धकार हो जाए। एवं ये राष्ट्र-पुरोहित वानस्पतिक भोजन करनेवाले हों इनके व्यवहार में अत्यन्त माधुर्य हों, इनके प्रभाव से राजा व प्रजा के जीवन में भी मद्य-मांसादि का प्रवेश न हो और राजा को शक्ति व ज्ञान का ऐश्वर्य प्राप्त हो। 5 स्वाहा=इस कार्य के लिये पुरोहित स्वार्थ के त्यागवाले हों।

72. सप्तऽऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतोऽअस्वप्नजौ सत्रादौ व देवौ॥

—यजु. अ. ३४ मं. ५५

1. सप्त ऋषयः=सात ऋषि प्रतिशरीरे=प्रत्येक शरीर में हिताः=रखे गये हैं। प्रभु ने -कर्णाविमौ नासिके मुखम्=दो कान, दो नासिका (छिद्र) दो आंखें व एक मुख' इस प्रकार सात ऋषि-तत्वज्ञान प्राप्त करानेवाले देव (ज्ञानेन्द्रियाँ) अथवा पांच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन और बुद्धि-ये सात ज्ञानसाधक देव हम सबके शरीर में स्थापित किये हैं। 2. सप्त=ये सात ऋषि सदम्=इस तेंतीस देवों के निवास स्थान को अप्रमादम्=बिना किसी प्रकार के प्रमाद के रक्षन्ति=रक्षित करते हैं। जब तक ये ज्ञानेन्द्रियाँ, मन व बुद्धिरूप ऋषि ठीक कार्य करते हैं तब तक नाश का भय नहीं होता। 3. इन सातों ऋषियों से ज्ञान के प्रवाह निरन्तर चलते हैं। इन प्रवाहों के चलने से ही इन्हें 'आपः' नाम से यहां स्मरण किया गया है। जैसे जल बहता है, उसी प्रकार इनसे ज्ञान के प्रवाह चलते हैं, वृत्तियाँ इधर-उधर फैलती हैं, परन्तु जिस समय जीवात्मा, इन्द्रियों का अधिष्ठाता 'इन्द्र'-देव मस्तिष्करूप कार्यालय को छोड़कर हृदयरूप घर में जाता है (स्वम् अपि इतो भवति) अपने घर की ओर गया होता है=स्वपिति) तब

स्वपतः हृदयरूप घर की ओर जाते हुए इन्द्र के लोकम्=स्थान व दर्शन को (लोक=to look) सप्त आपः=ये सात इन्द्रियवृत्तियों के प्रवाह ईयुः प्राप्त होते हैं। जागरितावस्था में तो ये प्रवाह बाहर की ओर चल रहे थे। अब स्वप्नावस्था में ये बाहर की ओर न जाकर उस आत्मा के ही लोक में पहुंच जाते हैं। इसलिये स्वप्न में कई बार हमें आत्मा का आभास होता प्रतीत होता है। इसी आभास को दृढ़ता से पकड़ लेने के लिये योगदर्शन के अस्वप्नजौ= (स्वप्नक्=शयालु) न सोने के स्वभाववाले देवौ=सदा अपनी क्रीड़ा को स्थिर रखनेवाले, दिव्य गुणोंवाले 'प्राणापान' सत्रसदौ=इस जीवन-यज्ञ में सदा स्थित होनेवाले जागृतः=जागते रहते हैं। सब सो जाएं, पर ये प्राणापान तो यज्ञ के रक्षक हैं, ये सोते नहीं। ये सोने लगें तो सब समाप्त न हो जाए? इससे इन प्राणापान का महत्व स्पष्ट है। इनकी साधना पर इसीलिए अत्यधिक बल दिया गया है। इनकी साधना करनेवाला 'कण्व'=मेधावी बनता है। यह कण्व ही मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—हम इस शरीर को ऋषि-आश्रम के रूप में देखें। इसके दिन-रात चलनेवाले ज्ञानयज्ञ का ध्यान करें और यज्ञ के रक्षक प्राणापानों की साधना को महत्त्व दें।

73. यत्ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः।
तासु नो धेह्यभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः
पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु॥ —अर्थव.का. १२ सू. १ मं. १२

अहम्=प्रत्येक पृथिवीवासी को चाहिये कि वह पृथिवी को निज माता जानकर, पवित्र भावना से, पृथिवी माता की सेवा तथा रक्षा करने में तत्पर रहे। पृथिवी माता है, इसके पार्थिव अंशों से प्रत्येक का शरीर बना है तथा यही माता खाद्य-पेय पदार्थ देकर हमारी रक्षा कर रही है। इस पृथिवी माता में पर्जन्य अर्थात् मेघ निज जल रूपी वीर्य सींचता है, इसलिये पर्जन्य पिता है। इसके जल रूपी वीर्य से अन्नोत्पत्ति तथा पीने के लिये हमें जल प्राप्त होता है।

74. यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु॥

—अर्थव.का. १२ सू. १ मं. ५

(यस्याम्) जिस पृथिवी पर (पूर्वे) शाश्वत काल से (पूर्वजनाः) पूर्वजों ने (विचक्रिरे) विविध प्रकार के श्रेष्ठ कर्म किये हैं, (यस्याम्) जिस पृथिवी में (देवाः) दिव्यकोटि के मनुष्य (असुरान्) आसुर स्वभाव वाले लोगों को (अभ्यवर्तयन्) परास्त करते रहे हैं। (गवाम् अश्वानाम्, वयसश्च) गौओं, अश्वों, पक्षियों का (विष्ठा) स्थिति स्थान (पृथिवी) पृथिवी, (नः) हमें (भगम्) ऐश्वर्य तथा (वर्चः) तेज (दधातु) प्रदान करें।

75. तुञ्जेतुञ्जे य उत्तरे स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणः। न विन्धे अस्य सुष्टुतिम्॥

—ऋग्० मं.१/ सू.७/ मं.७

तुञ्जे-तुञ्जे=(दाने-दाने) प्रत्येक दान के प्रसंग में, इस वज्रिणः=सदा क्रियाशील (वज् गतौ) अथवा वृत्रों पर वज्र का प्रहार करनेवाले अर्थात् ज्ञान के आवरणभूत काम, क्रोध, लोभ को विनष्ट करनेवाले इन्द्रस्य=परमैश्वर्यशाली प्रभु की ये=जो उत्तरे=उत्कृष्ट स्तोमाः=स्तुतियाँ की जाती हैं, उन स्तुतियों से अस्य=इस प्रभु की सुष्टुतिम्=उत्तम स्तुति को न विन्धे=(न विन्दामि) नहीं प्राप्त करता हूँ अर्थात् कितने भी उत्कृष्ट मेरे स्तोम हों, वे प्रभु की स्तुति की समाप्ति को प्राप्त नहीं कर पाते, अर्थात् मैं कभी भी प्रभु की पूर्ण स्तुति नहीं कर सकता। 2. प्रभु के दान अनन्त हैं, मेरी स्तुति तो सान्त ही होगी, सो यह नहीं हो सकता कि मैं प्रभु के दानों की पूर्ण स्तुति कर सकूं। प्रभु देते-देते नहीं हारते, मैं स्तुति करते हुए हार जाता हूँ।

भावार्थ—प्रभु के दान अनन्त हैं। मैं प्रभु के इन दानों का पूर्णतया स्तवन कैसे कर सकता हूँ? मेरी शक्ति सीमित है।

76. परो पेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि।
परेहि न त्वा कामये वृक्षान् वनानि सं चर गृहेषु गोषु मे मनः॥

—अथर्व. कां. ६ सू. ४५ मं. १

(मनस्पाप) हे मानसिक पाप! (परः अप इहि) परे हट जा, (किम्) क्यों (अशस्तानि) अप्रशस्त कर्मों की (शंशसि) तू प्रशंसा करता है। (परा इहि) परे चला जा, (त्वा न कामये) तुझे नहीं मैं चाहता, (वृक्षान् वनानि) वृक्षों और वनों में (संचर) संचार कर, विचर (मे) मेरा (मनः) मन (गृहेषु) गृहकार्यों में, (गोषु) और गोपालन में विचरे।

(मन्त्र में देवासुर संग्राम को निर्दिष्ट किया है, मानसिक पाप है असुर और उसके हटाने का संकल्प है देव। मानसिक पाप ही वास्तविक पाप है। ऐन्द्रियिक और शारीरिक पाप तो मानसिक पाप के परिणाम होते हैं, अतः संकल्पों और विचारों को शिव बनाना चाहिये मानसिक पाप की कामना को वर्जित करना चाहिये। वृक्षों और वनों में पाप विचरता है। वृक्षों और वनों में पापिष्ठ जीवात्माएं जन्म ग्रहण करती है। इनमें जीवात्माओं का वास होता है। तभी इन्हें "ऊर्ध्वस्वप्नाः" कहा है। (अर्थव० ६/४४/१) स्वप्न और जागरण जीवधारियों को होते हैं, जड़ों को नहीं। मन को खाली न रखना चाहिये इसलिये कहा है "गृहेषु गोषु" "मे मनः"। जीवात्मा के लिये कहा "ओषधिषु प्रतितिष्ठा शरीरैः"। अर्थव. १८/२/७) शरीरैः बार-बार शरीर ग्रहण करना ओषधियों में। अतः शरीरैः बहुवचन है, या सूक्ष्म और कारण शरीर सहित स्थूल शरीर रूप में औषधि, वनस्पति, वृक्षों और वनों में शरीरग्रहण करना, अभिप्रेत है।)

77. स्वादोरित्था विषूवतो मधोः पिबन्ति गौर्यः।
य इन्द्रेण सयावरीर्वृष्णा मदन्ति शोभथा वस्वीरनु स्वराज्यम्॥

—साम.अ. ३४ म. १

पदार्थ—गौर्यः चमकीली सूर्यकिरणें इत्था सचमुच वि-सुवतः विशेषरूप से भूमि पर बरसते हुए बादल के स्वादोः स्वादु मधोः मधुर जल का पिबन्ति पान करती हैं, याः जो सूर्यकिरणें वृष्णा वर्षा करने वाले इन्द्रेण सूर्य की सयावरीः सहगामिनी होती हुई शोभथा शोभन प्रकार से मदन्ति आनन्दित करती हैं। वस्वीः निवासक वे किरणें स्वराज्यम् सूर्य के स्वराज्य के अनुकूल चलती हैं।

भावार्थ—अहो, सूर्य का स्वराज्य कैसा दर्शनीय है! किस प्रकार सूर्य-किरणें निर्बाध होकर मेघ से बरसाये हुए नदी, नद, समुद्र आदि में व्याप्त जल को पीकर, पुनः बादल बनाकर फिर मेघ-जल को भूमि पर बरसा देती हैं। वैसे ही हमें भी चाहिए कि हम भी आन्तरिक स्वराज्य तथा अपने राष्ट्र के स्वराज्य की अर्चना करें।

78. ता अस्य पृशनायुवः सोमं श्रीणन्ति पृश्नयः।
प्रिया इन्द्रस्य धेनवो वज्रं हिन्वन्ति सायकं वस्वीरनु स्वराज्यम्॥

—साम.अ. ३४ म. २

पदार्थ—अस्य इस इन्द्रनामक सूर्य की ताः पृश्नयः वे रंग-बिरंगी किरणें पृशनायुवः मानो चन्द्रमा के साथ स्पर्श को चाहती हुई सोमम् चन्द्रमा को श्रीणन्ति प्रकाश से परिपक्त करती हैं। इन्द्रस्य सूर्य की, वे प्रियाः प्रिय धेनवः किरणें सायकम् वस्वीः वे निवासक किरणें स्वराज्यम् सूर्य के स्वराज्य के अनु अनुकूल चलती हैं। यहाँ 'पृशनायुवः में व्याङ्ग्योत्प्रेक्षा अंलकार है।

भावार्थ—सूर्य-किरणों का ही यह महान् कार्य है कि वे सूर्य के स्वराज्य का अनुसरण करती हुई चन्द्र आदि लोकों को प्रकाशित करती हैं, मेघों में विद्युतरूप वज्र को गरजाती हुई वर्षा करती हैं और सबको बसाती हैं। उसी प्रकार मनुष्यों को भी अपना आन्तरिक एवं बाह्य स्वराज्य प्रकाशित करना चाहिए।

79. ता अस्य नमसा सहः सपर्यन्ति प्रचेतसः।
व्रतान्यस्य सश्चिरे पुरूणि पूर्वचित्तये वस्वीरनु स्वराज्यम्॥

—साम.अ. ३४ म. ३

पदार्थ—प्रथम सूर्य किरणों के पक्ष में। प्रचेतसः प्रज्ञापक ताः वे सूर्यकिरणें नमसा चन्द्र आदि लोकों के प्रति झुकने के द्वारा अस्य इस सूर्यरूप इन्द्र के सहः बल को सपर्यन्ति बढ़ाती हैं। और पूर्वचित्तये सूर्य के क्षितिज में उदय होने से पूर्व ही उसका ज्ञान कराने के लिये अस्य इस सूर्य के पुरूणि बहुत से व्रतानि प्रकाशप्रदान आदि कर्मों को सश्चिरे कर देती हैं। इस प्रकार वस्वीः वे निवासक किरणें स्वराज्यम् सूर्य के अपने साम्राज्य को अनु अनुक्रम से बढ़ाती हैं।

द्वितीय सेना के पक्ष में। प्रचेतसः प्रकृष्ट चित्त वाली ताः वे सेनाएं नमसा नमस्कार के साथ अस्य इस सेनाध्यक्षरूप इन्द्र के सहः बल की सपर्यन्ति प्रशंसा करती हैं। और अस्य इस सेनाध्यक्ष को पूर्ववित्तये पहले ही ज्ञान करा देने के लिये पुरूणि बहुत से व्रतानि शत्रुओं में भय उत्पन्न करना आदि कर्मों को सश्चिरे कर देती हैं। इस प्रकार वस्वीः अपने राष्ट्र के निवास में कारणभूत वे सेनाएं स्वराज्यम् स्वराज्य के अनु अनुकूल आचरण करती हैं।

भावार्थ—सूर्य किरणें जैसे सूर्य के साथ मिलकर और सेनाएं जैसे सेनापति के साथ मिलकर स्वराज्य को बढ़ाती हैं, वैसे ही मनुष्यों को चाहिए कि परमेश्वर के साथ मिलकर अपने आध्यात्मिक स्वराज्य एवं राष्ट्र के स्वराज्य को बढ़ायें।

उपनिषत् सुधा

1. **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायाम्।**
   परमे व्योमन्त्सोऽश्नुते सर्वान् कामान् ब्राह्मण सह विपश्चितेति॥

—तैत्तिरीयोपनिषद्

ब्रह्म सत्य है, ज्ञान है, अनन्त है। वह हृदय की गुहा में छिपा हुआ है, परन्तु साथ ही परम-व्योम में, अन्तरिक्ष-मंडल में वही स्पष्ट दिख रहा है। उसे जो जान लेता है वह सर्वज्ञ ब्रह्म का साथी हो जाता है, और साथी होने के कारण जैसे ब्रह्म के लिये कोई कामना अपूर्ण नहीं रह जाती, सब प्रकार से वह तृप्त होता है, वैसे ही ब्रह्म का साथी होने के कारण उसके लिये भी कामना अपूर्ण नहीं रह जाती, वह भी सब प्रकार से तृप्त हो जाता है।

2. **सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येप आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।**
   अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः दीक्षादोषाः॥

—कठोपनिषद्

(सत्येन लभ्यस्तपसा) अर्थात् जो सत्य आचरणरूप धर्म का अनुष्ठान, ठीक-ठीक विज्ञान और ब्रह्मचर्य करते हैं, इन्हीं शुभगुणों से सबका आत्मा परमेश्वर जाना जाता है। जिसको निर्दोष अर्थात् धर्मात्मा ज्ञानी सन्यासी लोग देखते हैं। सो सबके आत्माओं का भी आत्मा प्रकाशस्वरूप और सब दिन शुद्ध है। उसी की आज्ञा पालन करना सब मनुष्यों को चाहिए।

3. **सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।**
   येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत् सत्यस्य परमं निधानम्॥

—उपनिषद्

(सत्यमेव जय०) जो सत्य का आचरण करने वाला है, वही मनुष्य सदा विजय और सुख को प्राप्त होता है और जो मिथ्या आचरण और झूठे कामों का करनेवाला है, वह सदा पराजय और दुःख ही को प्राप्त होता है। विद्वानों का जो मार्ग है, सो भी सत्य के आचरण से ही खुल जाता है। जिस मार्ग में आप्तकाम, धर्मात्मा विद्वान लोग चलकर सत्यसुख को प्राप्त होते हैं, जहां ब्रह्म ही का सत्यस्वरूप सुख सदा प्रकाशित होता है। सत्य से ही उस सुख को वे प्राप्त होते हैं, असत्य से कभी नहीं। इससे सत्य धर्म का आचरण और असत्य का त्याग करना सब मनुष्यों को उचित है।

4. **युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्विश्लोक येतु पथ्येव सूरेः।**
   शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः॥

—श्वेताश्वतरोपनिषद्

(हे इन्द्रियवर्ग और इन्द्रियाधिष्ठात् देवगण!) मैं तुमसे सम्बन्ध रखनेवाले पुरातन ब्रह्म में नमस्कार (चित्त-प्रणिधान आदि) द्वारा मन लगाता हूँ। सन्मार्ग में विद्यमान विद्वान् की भांति मेरा यह कीर्तनीय श्लोक (स्तुतिपाठ) लोक में विस्तार को प्राप्त हो। जिन्होंने सब ओर से दिव्य धामों पर अधिकार कर रखा है वे अमृत (हिरण्यगर्भ) के पुत्र विश्वेदेवगण श्रवण करें।

5. **यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः।**
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः॥ –कठोपनिषद्

जिस आत्मा के ब्राह्मण और क्षत्रिय ये दोनों ओदन-भात हैं तथा मृत्यु जिसका उपसेचन (शाकादि) है वह जहाँ है उसे कौन (अज्ञ पुरुष) इस प्रकार (उपर्युक्त साधनसम्पन्न अधिकारी के समान) जान सकता है?

6. **वेदाहमेतमजरं पुराणं सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात्।**
जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम्॥

–श्वेताश्वतरोपनिषद्

ब्रह्मवेत्तालोग जिसके जन्म का अभाव बतलाते हैं और जिसे नित्य कहते हैं, उस जराशून्य पुरातन सर्वात्मा को जो विभु होने के कारण सर्वगत है, मैं मानता हूँ।

7. **अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः।**
हृदा मन्वीशो मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥

–श्वेताश्वतरोपनिषद

यह अंगुष्ठमात्र पुरुष, अन्तरात्मा, सर्वदा जीवों के हृदय में स्थित, ज्ञानाधिपति एवं हृदयस्थित मन के द्वारा सुरक्षित है। जो इसे जानते हैं वे अमर हो जाते हैं।

8. **अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।**
तमक्रतुःपश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः॥ –कठोपनिषद्

यह अणु से भी अणु और महान् से महान् आत्मा जीव की हृदयरूप गुहा में स्थित है। निष्काम पुरुष अपनी इन्द्रियों के प्रसाद से आत्मा की उस महिमा को देखता है और शोकरहित हो जाता है।

9. **नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।**
तत्कारणं साङ्ख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥

–श्वेताश्वतरोपनिषद

जो नित्य में नित्य, चेतनों में चेतन और अकेला ही बहुतों को भोग प्रदान करता है, सांख्ययोगद्वारा ज्ञातव्य उस सर्वकारण देव को जानकर (पुरुष) समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

10. **एकोवशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति।**
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्।

–श्वेताश्वतरोपनिषद

जो एक अद्वितीय स्वतन्त्र परमात्मा बहुत-से निष्क्रिय जीवों के एक बीज को अनेक रूप कर देता है, अपने अन्तःकरण में स्थित उस (देव) को जो मतिमान् देखते हैं उन्हें ही नित्यसुख प्राप्त होता है, औरों को नहीं।

11. **ओ३म् सह नानवतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।**
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥
ओ३म् शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!! –कठोपनिषद्

परमात्मा हम (आचार्य और शिष्य) दोनों की साथ-साथ रक्षा करें। हमारा साथ-साथ पालन करें। हम साथ-साथ विद्यासम्बन्धी सामर्थ्य प्राप्त करें। हमारा अध्ययन किया हुआ तेजस्वी हो। हम द्वेष न करें।

12. **श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य।**
प्राणश्चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥

—केनोपनिषद्

जो श्रोत्र का श्रोत्र, मनका मन और वाणी का वाणी है वही प्राण का प्राण और चक्षु का चक्षु है। (ऐसा जानकर) धीर पुरुष संसार से मुक्त होकर इस लोक से जाकर अमर हो जाते हैं।

13. **यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।**
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ —केनोपनिषद्

जो वाणी से प्रकाशित नहीं है, किन्तु जिससे वाणी प्रकाशित होती है उसी को तू ब्रह्म जान, जिस (देशकालावच्छिन्न वस्तु) की लोक उपासना करता है ब्रह्म नहीं है।

14. **यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।**
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ —केनोपनिषद्

जो मनसे मनन नहीं किया जाता, बलिक जिससे मन मनन किया हुआ कहा जाता है उसी को तू ब्रह्म जान। जिस (देश-कालावच्छिन्न वस्तु) की लोक उपासना करता है वह ब्रह्म नहीं है।

15. **यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूꣳषि पश्यति।**
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ —केनोपनिषद्

जिसे कोई नेत्र से नहीं देखता बल्कि जिसकी सहायता से नेत्र (अपने विषयों को) देखते हैं उसी को तू ब्रह्म जान। जिस (देशकालावच्छिन्न वस्तु) की लोक उपासना करता है वह ब्रह्म नहीं है।

16. **यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदꣳश्रुतम्।**
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ —केनोपनिषद्

जिसे कोई कान से नहीं सुनता बल्कि जिससे यह श्रोत्रेन्द्रिय सुनी जाती है उसी को तू ब्रह्म जान। जिस (देशकालावच्छिन्न वस्तु) की लोक उपासना करता है वह ब्रह्म नहीं है।

17. **यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते।**
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ —केनोपनिषद्

जो नासिकारन्ध्रस्थ प्राण के द्वारा विषय नहीं किया जाता, बल्कि जिससे प्राण अपने विषयों की ओर जाता है उसी को तू ब्रह्म जान। जिस (देशकालावच्छिन्न वस्तु) की लोक उपासना करता है वह ब्रह्म नहीं है।

18. **इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।**
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥ —केनोपनिषद्

यदि इस जन्म में ब्रह्म को जान लिया तब तो ठीक है और यदि उसे इस जन्म में न जाना तब तो बड़ी भारी हानि है। बुद्धिमान लोग उसे समस्त प्राणियों में उपलब्ध करके इस से जाकर (मरकर) अमर हो जाते हैं।

19. सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाःसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्तेपदः संग्रहेण प्रब्रवीम्योमित्येतत्।।

—कठोपनिषद्

सारे वेद जिस पद का वर्णन करते हैं, समस्त तप जिसकी प्राप्ति के साधक कहते हैं, जिसकी इच्छा से (मुमुक्षुजन) ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, उस पद को मैं तुमसे संक्षेप में कहता हूँ। ओ३म् यही वह पद है।

20. एतदालम्बनः श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते।। —कठोपनिषद्

यही श्रेष्ठ आलम्बन है, यही प्रधान आलम्बन है। इस आलम्बन को जानकर पुरुष ब्रह्मलोक में महिमान्वित होता है।

21. आत्मानः रथिनं विद्धि शरीरः रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।। —कठोपनिषद्

तू आत्मा को रथी जान, शरीर को रथ समझ, बुद्धि को सारथी जान और मन को लगाम समझ।

22. इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाःस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।। —कठोपनिषद्

विवेकी पुरुष इन्द्रियों को घोड़े बतलाते हैं तथा उनके घोड़ेरूप से कल्पना किये जाने पर विषयों को उनके मार्ग बतलाते हैं और शरीर, इन्द्रिय एवं मन से युक्त आत्मा को भोक्ता कहते हैं।

23. उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया।
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।। —कठोपनिषद्

(अरे अविद्याग्रस्त लोगो!) उठो, (अज्ञान-निद्रा से) जागो, और श्रेष्ठ पुरुषों के समीप जाकर ज्ञान प्राप्त करो। जिस प्रकार छुरे की धार तीक्ष्ण और दुरस्तर होती है, तत्वज्ञानी लोग उस मार्ग को वैसा ही दुर्गम बतलाते हैं।

24. पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्।। —कठोपनिषद्

स्वयम्भू (परमात्मा) ने इन्द्रियों को बहिर्मुख करके हिंसित कर दिया है। इसी से जीव बाह्य विषयों को देखता है, अन्तरात्मा को नहीं। जिसने अमरत्व की इच्छा करते हुए अपनी इन्द्रियों को रोक लिया है ऐसा कोई धीर पुरुष ही प्रत्यगात्मा को देख पाता है।

25. यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्।। —कठोपनिषद्

जिस समय पांचों ज्ञानेन्द्रियाँ मन के सहित (आत्मा में) स्थित हो जाती हैं और बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती उस अवस्था को परमगति कहते हैं।

26. **प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।**
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥ –मुण्डकोपनिषद्

प्रणव धनुष है, (सोपाधिक) आत्मा बाण है और ब्रह्म उसका लक्ष्य कहा जाता है। उसका सावधानतापूर्वक वेधन करना चाहिये और बाण के समान तन्मय हो जाना चाहिये।

27. **नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।**
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥

–मुण्डकोपनिषद्

यह आत्मा न तो प्रवचन (पुष्कल शास्त्राध्ययन) से प्राप्त होने योग्य है और न मेधा (धारणाशक्ति) तथा अधिक श्रवण करने से ही मिलनेवाला है। यह (विद्वान्) जिस परमात्मा की प्राप्ति की इच्छा करता है उस (इच्छा) के द्वारा ही इसकी प्राप्ति हो सकती है। उसके प्रति यह आत्मा अपने स्वरूप को व्यक्त कर देता है।

28. **सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति॥** –बृहदारण्यक २/४/३

उसे मैत्रेयी ने कहा, जिससे मैं अमर नहीं हो सकती, उसे लेकर मैं क्या करूंगी? श्रीमान् जो कुछ अमृतत्व का साधन जानते हों, वही मुझे बतलावें।

29. **स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति।**
न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति।
न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति।
न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति।
न वा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति।
न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति।
न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति।
न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति।
न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति।
न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।
आत्मा वा अरे दृष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्॥

–बृहदारण्यक २/४/५

उन्होंने कहा–'अरी मैत्रेयि! यह निश्चय है कि पति के प्रयोजन के लिये पति प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजन के लिये पति प्रिय होता है; स्त्री के प्रयोजन के लिये स्त्री प्रिया नहीं होती, अपने ही प्रयोजन के लिये स्त्री प्रिया होती है; पुत्रों के प्रयोजन के लिये पुत्र प्रिय नहीं होते अपने ही प्रयोजन के लिये पुत्र प्रिय होते है; धन के प्रयोजन के लिये धन प्रिय नहीं होता, अपने प्रयोजन के लिये धन प्रिय होता है, ब्राह्मण के प्रयोजन के लिये ब्राह्मण प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजन के लिये ब्राह्मण

प्रिय होता है; क्षत्रिय के प्रयोजन के लिये क्षत्रिय प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजन के लिये क्षत्रिय प्रिय होता है; लोकों के प्रयोजन के लिये लोक प्रिय नहीं होते अपने ही प्रयोजन के लिये लोक प्रिय होते हैं; देवताओं के प्रयोजन के लिये देवता प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजन के लिये देवता प्रिय होते हैं; प्राणियों के प्रयोजन के लिये प्राणी प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजन के लिये प्राणी प्रिय होते हैं; तथा सबके प्रयोजन के लिये सब प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजन के लिये सब प्रिय होते हैं। अरी मैत्रैयि! यह आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और ध्यान किये जाने योग्य है। हे मैत्रैयि! इस आत्मा के दर्शन, श्रवण, मनन एवं विज्ञान से इस सबका ज्ञान हो जाता है।

30. ओ३म् अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदस्तꣳहोवाच यद्वेत्थ तेन नोपसीद ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामीति स होवाच॥

–छान्दोग्य ७/१/१

'हे भगवन्! मुझे उपदेश कीजिए' ऐसा कहते हुए नारदजी सनत्कुमार जी के पास गये। उनसे सनत्कुमारजी ने कहा–'तुम जो कुछ जानते हो उसे बतलाते हुए मेरे पास उपदेश लेने के लिये आओ; तब मैं तुम्हें उससे आगे बतलाऊँगा' तब नारद ने कहा–

31. ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदꣳसामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यꣳराशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्याꣳसर्पदेवजनविद्यामेतद्- भगवोऽध्येमि॥ –छान्दोग्य ७/१/२

'हे भगवन्! मुझे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चौथा अथर्ववेद याद है, (इनके सिवा) इतिहास-पुराणरूप पांचवा वेद, वेदों का वेद (व्याकरण), श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातज्ञान, निधि शास्त्र, तर्कशास्त्र, नीति, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या (गारूड-मन्त्र) और देवजनविद्या-नृत्य संगीत आदि-हे भगवन्! यह सब मैं जानता हूँ।

32. सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मविच्छ्रुतꣳह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति तꣳहोवाच यद्वै किञ्चैतदध्यगीष्ठा नामैवैतत्॥

–छान्दोग्य ७/१/३

हे भगवन्! वह मैं केवल मन्त्रवेता ही हूँ, आत्मवेत्ता नहीं हूँ। मैंने आप-जैसों से सुना है कि आत्मवेत्ता शोक को पार कर लेता है, और हे भगवन्! मैं शोक करता हूँ; ऐसे मुझको हे भगवन्! शोक से पार कर दीजिये। तब सनत्कुमार ने उनसे कहा-'तुम यह जो कुछ जानते हो वह नाम ही है'॥

33. यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव। सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति। भूमानं भगवो विजिज्ञास इति॥

–छान्दोग्य ७/२३/१

सनत्कुमार- 'निश्चय जो भूमा है वही सुख है, अल्प में सुख नहीं है। सुख भूमा ही है। भूमा की ही विशेषरूप से जिज्ञासा करनी चाहिये।' (नारद) 'भगवन्! मैं भूमा की विशेषरूप से जिज्ञासा करता हूँ'।

34. **यत्र नान्यत् पश्यति नान्यतच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्य द्विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्। स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति। स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नीति॥** –छान्दोग्य ७/२४/१

ऋषि ने कहा, जिस परम शुद्ध अवस्था में आत्मा अन्य वस्तु को न देखता है न सुनता है न जानता है, वही भूमा है। जहां आत्मा अन्य वस्तु को देखता है सुनता है जानता है वही अल्प है। जो भूमा है व अमृत है, जो अल्प है वह मर्त्य है मरण धर्मा है। नारद ने पूछा, भगवन्! यह भूमा किसमें प्रतिष्ठित है? ऋषि ने उत्तर दिया भूमा अपनी ही महिमा में प्रतिष्ठित है, या यह कहें कि वह महिमा में भी प्रतिष्ठित नहीं है।

35. **यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।**
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ...॥ –बृहदारण्यक ४/४/७

जब हृदय से चिपकी रहनेवाली सभी कामनाएं उससे छूट जाती हैं तब मर्त्य अमर हो जता है और वहां यहां भी शाश्वत (ब्रह्म) को अधिकृत करता है।

36. **ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति॥** –बृहदारण्यक ४/४/६

वह शाश्वत (ब्रह्म) हो जाता है और ब्रह्म में ही चला जाता है।

37. **श्वेतकेतुर्हारुणेय आस तꣳह पितोवाच श्वेतकेतो वस ब्रह्मचर्यम्।**
न वै सोम्यास्मत्कुलीनोऽननूच्य ब्रह्मबन्धुरिव भवतीति॥

–छान्दोग्य ६/१/१

अरुण का सुप्रसिद्ध पौत्र श्वेतकेतु था, उससे पिताने कहा–'हे श्वेतकेतो! तू ब्रह्मचर्यवास कर; क्योंकि हे सोम्य! हमारे कुल में उत्पन्न हुआ कोई पुरुष अध्ययन न करके ब्रह्मबन्धु सा नहीं होता।

38. **येनाश्रुतꣳश्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति।**
कथं नु भगवः स आदेशो भवतीति॥ –छान्दोग्य ६/१/३

जिसके द्वारा अश्रुत श्रुत हो जाता है, अमत मत हो जाता है और अविज्ञात विशेषरूप से ज्ञात हो जाता है। (यह सुनकर श्वेतकेतु ने पूछा) 'भगवन्! वह आदेश कैसा है?'

39. **स ह द्वादशवर्ष उपेत्य चतुर्विꣳशतिवर्षः सर्वान् वेदानधीत्य महामना अनूचानमानी स्तब्ध एयाय। तꣳह पितोवाच श्वेतकेतो यन्नु सोम्येदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यः॥** –छान्दोग्य ६/१/२

वह श्वेतकेतु बारह वर्ष की अवस्था में उपनयन कराकर चौबीस वर्ष का होने पर सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन कर अपने को बड़ा बुद्धिमान और व्याख्या करनेवाला मानते हुए उद्दण्डभाव से घर लौटा। उससे पिताने कहा–'हे सोम्य! तू जो ऐसा महामना, पण्डितम्मन्य और अविनीत है सो क्या तूने वह आदेश पूछा है?'

40. **न वै नूनं भगवन्तस्त एतदवेदिषुर्यद्ध्येतदवेदिष्यन् कथं मे नावक्ष्यन्निति भगवाꣳस्त्वेव मे तद्ब्रवीत्विति तथा सोम्येति होवाच॥** –छान्दोग्य ६/१/७

'निश्चय ही वे मेरे पूज्य गुरुदेव इसे नहीं जानते थे। यदि वे जानते मो मुझसे क्यों न कहते। अब आप ही मुझे वह बतलाइये।' तब पिताने कहा–'अच्छा, सोम्य! बतलाता हूँ'।

41. यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातꣳस्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्॥ –छान्दोग्य ६/१/४

हे सोम्य! जिस प्रकार एक मृत्तिका के पिण्ड के द्वारा सम्पूर्ण मृन्मय पदार्थों का ज्ञान हो जाता है कि विकार केवल वाणी के आश्रयभूत नाममात्र हैं, सत्य तो केवल मृत्तिका ही है।

42. न्यग्रोधफलमत आहरेतीदं भगव इति भिन्द्धीति भिन्नं भगव इति किमत्र पश्यसीत्यण्व्य इवेमा धाना भगव इत्यासामङ्गैकां भिन्द्धीति भिन्ना भगव इति किमत्र पश्यसीति न किञ्चन भगव इति॥ –छान्दोग्य ६/१२/१

इस (सामनेवाले वटवृक्ष) से एक बड़का फल ले आ। (श्वेतकेतु) 'भगवन्! यह ले आया। (आरुणि) इसे फोड (श्वेत) भगवन्! फोड दिया।' (आरुणि) 'इसमें क्या देखता है?' (श्वेत.) 'भगवन्! इसमें ये अणु के समान दाने हैं।' (आरुणि) अच्छा वत्स! इनमें से एक को फोड़। (श्वेत.) फोड़ दिया भगवन!' (आरुणि) 'इसमें क्या देखता है?' (श्वेत.) 'कुछ नहीं भगवन्!'॥

43. यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोममयं विज्ञातꣳस्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम्॥ –छान्दोग्य ६/१/५

हे सोम्य! जिस प्रकार एक लोहमणिका ज्ञान होने पर सम्पूर्ण लोहमय (सुवर्णमय) पदार्थ जान लिये जाते हैं, क्योंकि विकास वाणीपर अवलम्बित नाममात्र है, सत्य केवल सुवर्ण ही है।

44. लवणमेतदुदकेऽवधायाथ मा प्रातरुपसीदथा इति सह तथा चकार तꣳहोवाच यद्दोषा लवणमुदकेऽवाधा अंग तदाहरेति तद्धावमृश्य न विवेद॥ –छान्दोग्य ६/१३/१

इस नमक को जल में डालकर कल प्रातःकाल मेरे पास आना। आरुणि के इस प्रकार कहने पर श्वेतकेतु ने वैसा ही किया। तब आरुणि ने उससे कहा–'वत्स! रात तुमने जो नमक जल में डाला था उसे ले आओ।' किन्तु उसने ढूँढ़ने पर उसे उसमें न पाया।

45. स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳसर्वं तत्सत्यꣳस आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच॥

–छान्दोग्य ६/१३/३

वह जो यह अणिमा है एतद्रूप ही यह सब है। वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतो! वही तू है। (आरुणि के इस प्रकार कहने पर श्वेतकेतु बोला–) 'भगवन्! मुझे इससे आगे।' (तब आरुणि ने) 'अच्छा, सोम्य!' ऐसा कहा।

46. स यथा तत्र नादाह्येतैतदात्मयमिदꣳसर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति तद्धास्य विजज्ञाविति विजज्ञाविति॥ –छान्दोग्य ६/१६/३

वह जिस प्रकार उस (परीक्षा के) समय नहीं जलता (उसी प्रकार विद्वान का पुनरावर्तन नहीं होता और अविद्वान का होता है)। यह सब एतद्रूप ही है, वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतो! वही तू है। तब वह (श्वेतकेतु) उसे जान गया–उसे जान गया।

47. त्रयाः प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूषुर्देवा मनुष्या असुरा उषित्वा ब्रह्मचर्यं देवा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा३इति व्यज्ञासिष्मेति

होचुर्दाम्यतेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति॥ (बृहदा० 5/2/1)

प्रजापति पिता थे, उनकी तीन प्रकार की सन्तान थी, देव-मनुष्य-असुर। उन तीनों ने अपने पिता के निकट आकर ब्रह्मचर्य-पूर्वक वास किया। निश्चित अवधि तक ब्रह्मचर्य-वास कर चुकने पर 'देवों' ने प्रजापति से कहा, अब उपदेश दीजिये। प्रजापति ने देवों को 'द' अक्षर का उपदेश दिया, और पूछा, समझ गये? देवों ने कहा, हां, समझ गये, आपने हमें 'दाम्यत' अर्थात् इन्द्रियों का 'दमन' करो--यह उपदेश दिया। प्रजापति ने कहा, हां, तुम समझ गये।।१।।

48. अथ हैनं मनुष्या ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदेवा-
क्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा ३ इति व्यज्ञासिष्मेति
होचुर्दत्तेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति॥2॥ (बृहदा० ५/२/२)

अब प्रजापति के पास 'मनुष्य' पहुंचे। उनहोंने कहा, अब हमें उपदेश दीजिये। उन्हें भी उसने 'द' अक्षर का ही उपदेश दिया, और पूछा, समझ गये? मनुष्यों ने कहा, हां, समझ गये, आप ने हमें 'दत्त' अर्थात 'दान दो'--यह उपदेश दिया है। प्रजापति ने कहा, हां, तुम समझ गये।।२।।

49. अथ हैनमसुरा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदेवा-
क्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा३इति व्यज्ञासिष्मेति
होचुर्दयध्वमिति न आत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति
तदेतदेवैषा दैवी वागनुवदति स्तनयित्नुर्द द द इति दाम्यत
दत्त दयध्वमिति तदेतत्त्रयꣳ शिक्षेद्दमं दानं दयामिति॥३॥(बृहदा० 5/2/3)

अब प्रजापति के पास 'असुर' पहुंचे। उन्होंने कहा, अब हमें भी उपदेश दीजिये। उन्हें भी उसने 'द' अक्षर का उपदेश दिया, और पूछा, समझ गये? असुरों ने कहा, हां, समझ गये, आपने हमें 'दयध्वम्' अर्थात् 'दया करो'--यह उपदेश दिया है। प्रजापति ने कहा, हां, तुम समझ गये।

प्रजापति ने जो देव-मनुष्य-असुरों को उपदेश दिया, उसी का विद्युत् की कड़क में 'द-द-द' का उच्चारण करके मानो देवी-वाणी अनुवाद कर रही है, मानो वह संसार में कड़क-कड़क कर कह रही है–'दाम्यत-दत्त-दयध्वम्'– 'इन्द्रियों का दमन करो, संसार की वस्तुओं का संग्रह न करते हुए दान दो, और प्राणि-मात्र पर दया करो'! संसार की सम्पूर्ण शिक्षा इन तीन में समा जाती है, इसलिये इन तीन की ही शिक्षा दे--दम, दान, दया–'त्रयं शिक्षेत् दमं दानं दयामिति'।।३।।

50. एष प्रजापतिर्यद्हृदयमेतद्ब्रह्मैतत्सर्वं तदेतत्त्रयक्षरꣳ हृदयमिति
हृ हत्येकमक्षरमभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं
वेद द इत्येकमक्षरं ददत्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं
वेद यमित्येकमक्षरमेति स्वर्गं लोकं य एवं वेद॥१॥ (बृहदा० 5/3/1)

प्रजापति की तीन सन्तान–देव-मनुष्य-असुर–का अभी वर्णन किया। 'प्रजापति' क्या है? 'हृदय' ही प्रजापति है, अपने हृदय की ही देव-मनुष्य-असुर--ये तीन सन्तानें हैं। यह तीन अक्षरों का 'हृ-द-य' ही प्रजापति है, हृदय ही ब्रह्म है, हृदय ही यह सब-कुछ है। 'हृ'–यह एक अक्षर है, 'हृञ् हरणे' धातु से बना है, इसका अर्थ है, अभिहरण–लाना। जो इस रहस्य को समझ लेता है कि हृदय ही प्रजापति है, हृदय ही ब्रह्म है, हृदय ही सब-कुछ है, उसके सामने अपने और पराये लोग उपहार अभिहरण कर ला-लाकर रखते हैं। 'द'–यह दूसरा अक्षर है। 'दा दाने' धातु से बना है,

इसका अर्थ है--देना जो यह समझ लेता है कि हृदय ही प्रजापति है, ब्रह्म है, हृदय ही सब-कुछ है, उसे सब देते-ही-देते हैं। 'य'-यह तीसरा अक्षर है। 'इण् गतौ' धातु से बना है, इसका अर्थ है-जाना। जो हृदय-सम्बन्धी रहस्य को जान जाता है वह स्वर्ग-लोक को जाता है।।१।।

(निरुक्त में 'हृदय' की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है कि हृदय को हृदय इसलिये कहते हैं क्योंकि यह तीन काम करता हे-''हृ'' से हरति, 'द' से ददाति, 'य' से याति-यह लेता है, देता है, और चलता है। हृदय द्वारा लेना-देना रुधिर का होता है। हृदय शरीर के अशुद्ध रुधिर को लेकर, फिर उसे फेफड़ों द्वारा शुद्ध कर, शरीर को देता रहता है, और इसी उद्देश्य से सदा गति करता रहता है। इस दृष्टि से 'हृदय'-शब्द के अर्थ में ही 'रुधिर की गति' (Circulation of blood) का भाव आ जाता है। इसका पता योरप में होर्वो (१५७८-१६५७) ने १७वीं शताब्दी में लगाया था, परन्तु उससे बहुत पहले भारत में इसका, जैसा इस शब्द की व्युत्पत्ति से स्पष्ट है, ज्ञान था।

द-दाम्यत

देवों के लिए एक ही अनुशासन है- आत्म-शासन करो। ब्रह्मचर्य, इन्द्रिय-जय, साधनाएँ सब इसी के विस्तार हैं। व्यक्ति के जीवन के ये शाश्वत मंत्र हैं। जहाँ प्रथम 'द्' के अर्थो में जागरूक श्रद्धा रहती है, वहीं शान्ति ध्रुव रूपेण विराजती है। जब भी कभी हम आत्मिक शान्ति के लिए प्रयत्न करेंगे, प्रजापति के प्रथम उपदेश को जानना ही पड़ेगा।

असुरों के लिए प्रजापति की वाक् क्या कहती है।-

द-दयध्वम्

दया की उपासना करो। हिंस्त्र-प्रवृत्तियों का दमन करो, रक्त-पिपासा का संयम करो। हिंसा, युद्ध, भीषण अशांति के कारण है। आज तो चारों और लड़ाई की भेरी बज रही है। दाँत पीस-पीस कर सैनिक जंग के लिए कमर कस रहे हैं। एक हाथ मे नंगी तलवार लेकर मुख से शांति का मंत्र उच्चारण करने से शांति कभी होगी? सच्ची शांति के लिए प्रजापति के अर्थो को मानना ही पड़ेगा। इस उपदेश को हम चाहे, आज सुनें, चाहे दस बरस बाद सुनें, पर उसको बिना सुने गति नहीं।

समाज की जो विषमताएँ है, जिनके कारण पारस्परिक कलह मचा हुआ है, उनको दूर करने का यदि कोई उपाय है, तो प्रजापति का तीसरा उपदेश-

द-दत्त

दान दो, बाँट कर खाओ, संचय मत करो, वितरण का पाठ पढ़ो। धन और उपयोग की सामग्री सबको प्रिय लगने वाली है। उनको अपने लिए ही चाहना स्वार्थ है। सब के साथ बाँट कर उनको भोग करना सुख-मूलक है। पूंजीपति और मजदूरों के झगड़े की बुनियाद क्या है, जमींदार और किसान का संघर्ष क्यों है, धनिकों में आपस में रगड़ा क्यों है? इसलिए कि सब अकेले ही धन का भोग चाहते हैं।

दैनिक दिनचर्या विशेष मन्त्र

✴ महर्षि पतंजलि को नमन ✴

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि।।

✴ प्रातःकालीन जागरण मन्त्र ✴

ओ३म् प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातस्सोममुत रुद्रं हुवेम।।
ओ३म् प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता।
आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह।।
ओ३म् भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुद्वा ददन्नः।
भग प्रणो जनय गोभिरश्वैर्भग प्रनृभिर्नृवन्तः स्याम।।
ओ३म् उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम्।
उतोदिता मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम।।
ओ३म् भग एव भगवाँ अस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति स नो भग पुर एता भवेह।।

✴ यज्ञोपवीत धारण करने के मन्त्र ✴

ओ३म् यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्रयं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः।।
ओ३म् यज्ञोपवीतमसि यज्ञस्य त्वा यज्ञोपवीतेनोपनह्यामि।।

✴ भोजन करने से पूर्व का मन्त्र ✴

ओ३म् अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः।
प्रप्र दातारं तारिष ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे।।
ओ३म् मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं, केवलाघो भवति केवलादी।।
ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणाहुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।।

ब्रह्मयज्ञ (सन्ध्या) मन्त्राः

✷ यज्ञ ✷

अग्निहोत्र से लेकर समस्त पुण्य कर्मों को यज्ञ कहते हैं।
ब्रह्मयज्ञ (ईश्वर की उपासना), देवयज्ञ (अग्निहोत्र), पितृयज्ञ (माता-पिता की सेवा), बलिवैश्वदेव यज्ञ (दूसरों को भोजन कराकर या उनका अंश रखकर भोजन करना) एवं अतिथि यज्ञ (विद्वान् परोपकारी, जितेन्द्रिय, धार्मिक, सत्यवादी, छल-कपट रहित होकर नित्य भ्रमणशील मनुष्यों को अतिथि कहते हैं, उनकी सेवा करना) यह पाँच महायज्ञों की हमारी सनातन संस्कृति है।

✷ गायत्री महामन्त्र ✷

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।।

✷ आचमन मन्त्र ✷

ओ३म् शन्नो देवीरभिष्टयऽआपो भवन्तु पीतये। शंयोरभिस्रवन्तु नः।।

✷ इन्द्रियस्पर्श मन्त्र ✷

ओ३म् वाक् वाक्।
ओ३म् प्राणः प्राणः।
ओ३म् चक्षुः चक्षुः।
ओ३म् श्रोत्रं श्रोत्रम्।
ओ३म् नाभिः।
ओ३म् हृदयम्।
ओ३म् कण्ठः।
ओ३म् शिरः।
ओ३म् बाहुभ्यां यशोबलम्।
ओ३म् करतलकरपृष्ठे।

✷ ईश्वरप्रार्थनापूर्वकमार्जनमन्त्र ✷

ओ३म् भूः पुनातु शिरसि।
ओ३म् भुवः पुनातु नेत्रयोः।
ओ३म् स्वः पुनातु कण्ठे।
ओ३म् महः पुनातु हृदये।
ओ३म् जनः पुनातु नाभ्याम्।
ओ३म् तपः पुनातु पादयोः।

ओ३म् सत्यं पुनातु पुनः शिरसि।
ओ३म् खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र।

✳ प्राणायाम मन्त्र ✳

ओ३म् भूः। ओ३म् भुवः। ओ३म् स्वः। ओ३म् महः। ओ३म् जनः। ओ३म् तपः। ओ३म् सत्यम्।

✳ अघमर्षण मन्त्र ✳

ओ३म् ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रोऽअर्णवः॥१॥
ओ३म् समुद्रादर्णवादधि संवत्सरोऽअजायत।
अहो रात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी॥२॥
ओ३म् सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः॥३॥

✳ आचमन मन्त्र ✳

ओ३म् शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शंयोरभिस्रवन्तु नः॥

✳ मनसा परिक्रमा मन्त्र ✳

ओ३म् प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥१॥
ओ३म् दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥२॥
ओ३म् प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षितान्नमिषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥३॥
ओ३म् उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताशनिरिषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥४॥
ओ३म् ध्रुवा दिग् विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥५॥
ओ३म् ऊर्ध्वा दिग् बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥६॥

✳ उपस्थान-मन्त्र ✳

ओ३म् उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्तऽउत्तरम् ।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥१॥

ओ३म् उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः।
दृशे विश्वाय सूर्यम्॥२॥

ओ३म् चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावापृथिवीऽअन्तरिक्षꣳ सूर्यऽआत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा॥३॥

ओ३म् तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्॥४॥

✳ गायत्री महामन्त्र ✳

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।।

✳ समर्पण-मन्त्र ✳

हे ईश्वर दयानिधे! भवत्कृपयाऽनेन जपोपासनादिकर्मणा धर्मार्थकाममोक्षाणां सद्य सिद्धिर्भवेन्नः।

✳ नमस्कार-मन्त्र ✳

ओ३म् नमः शम्भवाय च मयोभवाय च, नमः शङ्कराय च मयस्कराय च, नमः शिवाय च शिवतराय च॥५॥

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः

अथ देवयज्ञः

ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासना मन्त्र

ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव।
यद् भद्रं तन्न आ सुव॥१॥
ओ३म् हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥२॥
ओ३म् य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्यच्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥३॥
ओ३म् यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव।
य ईशेऽस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥४॥
ओ३म् येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः।
योऽन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥५॥
ओ३म् प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नोऽअस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥६॥
ओ३म् स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त॥७॥
ओ३म् अग्ने नय सुपथा रायेऽअस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम॥८॥

आचमन मन्त्र

ओ३म् अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा॥१॥
ओ३म् अमृतापिधानमसि स्वाहा॥२॥
ओ३म् सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा॥३॥

अंगस्पर्श मन्त्र

ओ३म् वाङ् मऽआस्येऽस्तु॥१॥
ओ३म् नसोर्मे प्राणोऽस्तु॥२॥
ओ३म् अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्तु॥३॥
ओ३म् कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्तु॥४॥
ओ३म् बाह्वोर्मे बलमस्तु॥५॥
ओ३म् ऊर्वोर्मेऽओजोऽस्तु॥६॥
ओ३म् अरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सह सन्तु॥७॥

✺ अग्न्याधान-मन्त्र ✺

ओ३म् भूर्भुवः स्वः।

ओ३म् भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा।
तस्यास्ते पृथिवी देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे॥१॥

ओ३म् उद्‌बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्त्ते सꣳसृजेथामयञ्च।
अस्मिन्त्सधस्थेऽअध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत॥२॥

✺ समिधाधान मन्त्र ✺

ओ३म् अयन्त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्धस्व चेद्ध वर्द्धय चाऽस्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा॥ इदमग्नये जातवेदसे—इदन्न मम॥१॥

ओ३म् समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्।
आस्मिन् हव्या जुहोतन स्वाहा॥ इदमग्नये—इदन्न मम॥२॥

ओ३म् सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन।
अग्नये जातवेदसे स्वाहा॥ इदमग्नये जातवेदसे—इदन्न मम॥३॥

ओ३म् तन्त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्द्धयामसि।
बृहच्छोचा यविष्ठ्य स्वाहा। इदमग्नयेऽङ्गिरसे—इदन्न मम॥४॥

✺ पञ्चघृताहुति-मन्त्र ✺

ओ३म् अयन्त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्द्धस्व चेद्ध वर्धय चाऽस्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा॥ इदमग्नये जातवेदसे—इदन्न मम॥

✺ जलप्रोक्षण मन्त्र ✺

ओ३म् अदितेऽनुमन्यस्व॥१॥

ओ३म् अनुमतेऽनुमन्यस्व॥२॥

ओ३म् सरस्वत्यनुमन्यस्व॥३॥

ओ३म् देव सवितः प्र सुव यज्ञं प्र सुव यज्ञपतिं भगाय।
दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु॥४॥

✺ आघारावाज्यभागाहुति मन्त्र ✺

ओ३म् अग्नये स्वाहा। इदमग्नये—इदन्न मम॥१॥

ओ३म् सोमाय स्वाहा। इदं सोमाय—इदन्न मम॥२॥

ओ३म् प्रजापतये स्वाहा। इदं प्रजापतये—इदन्न मम॥३॥

ओ३म् इन्द्राय स्वाहा। इदमिन्द्राय—इदन्न मम॥४॥

✵ प्रातःकालीन अग्निहोत्र-मन्त्र ✵

ओ३म् सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा॥१॥
ओ३म् सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा॥२॥
ओ३म् ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा॥३॥
ओ३म् सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या। जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा॥४॥

✵ सायंकालीन अग्निहोत्र-मन्त्र ✵

ओ३म् अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा॥१॥
ओ३म् अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा॥२॥
ओ३म् अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा॥३॥
ओ३म् सजूर्देवेन सवित्रा सजू रात्र्येन्द्रवत्या। जुषाणोऽअग्निर्वेतु स्वाहा॥४॥

✵ प्रातः सायं होम करने के मन्त्र ✵

ओ३म् भूरग्नये प्राणाय स्वाहा। इदमग्नये प्राणाय—इदन्न मम॥१॥
ओ३म् भुवर्वायवेऽपानाय स्वाहा। इदं वायवेऽपानाय—इदन्न मम॥२॥
ओ३म् स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा। इदमादित्याय व्यानाय—इदन्न मम॥३॥
ओ३म् भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा।
इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः—इदन्न मम॥४॥
ओ३म् आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरों स्वाहा।
ओ३म् यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा॥६॥
ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव।
यद् भद्रं तन्नऽआसुव स्वाहा॥७॥
ओ३म् अग्ने नय सुपथा रायेऽअस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नमऽउक्तिं विधेम स्वाहा॥८॥

✵ गायत्री महामन्त्र ✵

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात् स्वाहा॥

✵ महामृत्युञ्जय मन्त्र ✵

ओ३म् त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात् स्वाहा॥
ओ३म् स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसं मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् स्वाहा॥

✷ वैदिक राष्ट्रीय-प्रार्थना ✷

ओ३म् आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम् आ राष्ट्रे राजन्यः शूरऽइषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो नऽओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् स्वाहा॥

✷ स्विष्टकृदाहुति मन्त्र ✷

ओ३म् यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम्। अग्निष्टत्स्विष्ट- कृद्विद्यात्सर्वं स्विष्टं सुहुतं करोतु मे। अग्नये स्विष्टकृते सुहुतहुते सर्वप्रायश्चित्ताहुतीनां कामानां समर्द्धयित्रे सर्वान्नः कामान्त्समर्द्धय स्वाहा॥ इदमग्नये स्विष्टकृते—इदन्न मम॥

ओ३म् प्रजापतये स्वाहा। इदं प्रजापतये इदन्न मम॥

✷ पूर्णाहुति मन्त्र ✷

ओ३म् सर्वं वै पूर्णं स्वाहा॥

इति देवयज्ञः

✷ शयनकालीन शिवसंकल्प-मन्त्र ✷

ओ३म् यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥१॥
ओ३म् येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥२॥
ओ३म् यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्नऽऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥३॥
ओ३म् येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥४॥
ओ३म् यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिँश्चित्तꣳसर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पस्तु॥५॥
ओ३म् सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिनऽइव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं, तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥६॥

जीवन दर्शन

✷ सांस्कृतिक बोध ✷

अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय व आनन्दमय-ये पंचकोष हैं।
पंचभूतात्मक, सप्तधात्वात्मक व त्रिदोषात्मक स्थूल दृश्य का अस्तित्व-यह अन्नमयकोष है।
प्राण-अपान-समान, उदान और व्यान-ये पांच प्राण हैं एवं नाग, कूर्म, कृंकल, देवदत्त व धनञ्जय-ये पांच उपप्राण हैं। यह प्राणमय कोष है।
मन, अहंकार और पांच कर्मेन्द्रियाँ वाक्, पाणि (हाथ), पाद (पैर), पायु (गुदा) और उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय)-यह सात तत्वों का समुदाय मनोमय कोष है। बुद्धि, चित्त एवं पांच ज्ञानेन्द्रियाँ (श्रोत्र, नेत्र, त्वचा, रसना व प्राण (नासिका) ये सात तत्वों का समुदाय विज्ञानमय कोष है।
जिसमें ज्योतिमर्य, तेजोमय, शान्तिमय व आनन्दमय आत्मा की जो अनुभूति हो वह सत्वगुणमय कारण रूप प्रकृति है, यह आनन्दमय कोष है।
प्राचीन ऐतरेय, शतपथ-ब्रह्मादि ग्रन्थ ऋषि-मुनियों द्वारा लिखित पुस्तकें हैं, उन्हीं को पुराण, इतिहास, कल्प, गाथा और नाराशंसी कहते हैं।

✷ सेवा ✷

बिना सेवा के चित्त शुद्धि नहीं होती है और चित्तशुद्धि के बिना परमात्मतत्त्व की अनुभूति नहीं होती। अतः सेवा के अवसर ढूंढते रहना चाहिए।

✷ ब्रह्मचर्य ✷

विषयों से भरे जगत में प्राण और मन को टूटने-फूटने से बचाने के लिये आत्म-सुरक्षा का 'ब्रह्मचर्य' ही एकमात्र माध्यम है।

✷ सृष्टि की सबसे प्राचीन पुस्तक-वेद ✷

भारतीय मान्यता के अनुसार सृष्टि के आदि में अग्नि, वायु, आदित्य एवं अंगिरा इन चार ऋषियों की पवित्र आत्माओं में जो पवित्र ज्ञान अवतरित हुआ, वह वेद है। भारतीय संस्कृति एवं संस्कारों का सबसे प्राचीनतम ग्रन्थ वेद मात्र पूजा पाठ की पद्धति या मात्र कर्म-काण्ड के ग्रन्थ नहीं हैं ज्ञान-विज्ञान की समस्त शिक्षाओं से लेकर सार्वभौमिक व वैज्ञानिक सत्यों के उद्घोषक ग्रन्थ वेद हैं।

✷ संस्कृति ✷

1,96,08,53,112 वर्ष पुराना गौरवशाली अतीत है हमारा। **'सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा'** (यजुर्वेद 7.14)। हम विश्व की सबसे प्राचीन संस्कृति के संवाहक हैं। लगभग दो सौ करोड़ वर्ष पुराना वैभवशाली इतिहास है हमारा, वर्तमान की पीड़ाओं से माँ

भारती को मुक्त करके विश्व का नेतृत्व करने वाला शक्तिशाली स्वर्णिम भारत, हम अपने पुरुषार्थ व राष्ट्र-आराधन से बनायेंगे।

✵ उपवेद ✵

आयुर्विज्ञान के शास्त्र को आयुर्वेद, शस्त्र-अस्त्रादि विद्या को धनुर्वेद, गायनशास्त्र को गन्धर्ववेद और शिल्पशास्त्र को शिल्पवेद कहते हैं। ये चार उपवेद हैं।

✵ वेदांग ✵

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त छन्द और ज्योतिष-ये आर्षज्ञान के सनातन शास्त्र हैं। इनको वेदांग कहते हैं।

✵ उपनिषद् ✵

ईश[1], केन[2], कठ[3], प्रश्न[4], मुण्डक[5], माण्डुक्य[6], ऐतरेय[7], तैत्तिरीय[8], छान्दोग्य[9], बृहदारण्यक[10], श्वेताश्वेतर[11] ये प्रामाणिक ग्यारह उपनिषद् हैं। अध्यात्म विद्या के, ऋषियों के गूढ़ ज्ञान को सन्देश व संवाद रूप में उपनिषद् में प्रस्तुत किया गया है।

✵ दर्शन ✵

जैमिनी, कणाद, गौतम, पतंजलि, कपिल व व्यास ऋषि द्वारा रचित क्रमशः मीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और वेदान्त इन छः शास्त्रों को, दर्शन या उपांग कहते हैं।

✵ चार आश्रम ✵

जीवन में क्रमशः उन्नति के सोपान-ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास ये चार आश्रम हैं।

✵ अवस्थाएँ ✵

जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति-ये तीन अवस्थाएं हैं।

जब मन इन्द्रियों द्वारा कार्य कर रहा होता है, वह जागृत अवस्था होती है। जब शयन समय में इन्द्रियों का कार्य बन्द होने पर मन कार्य कर रहा होता है, वह स्वप्न अवस्था है। और जब समस्त इन्द्रियाँ व मन कार्य करना बन्द कर देते हैं, केवल प्राण चलते हैं, तब वह अवस्था सुषुप्ति अवस्था होती है।

✵ सत्य की कसौटी के आठ मापदण्ड ✵

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव ये आठ प्रमाण हैं और इन्हीं से सत्य-असत्य का बोध होता है। ये मापदण्ड हैं अन्वेषण के, सत्यबोध के। ये आठ प्रमाण सत्यज्ञान की कसौटी हैं।

✷ सोलह संस्कार ✷

मानव जीवन के निर्माण की आधारशिला है–'सोलह संस्कार'। अतः मैं गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, कर्णवेध, उपनयन, वेदारम्भ, समावर्त्तन, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास व अन्त्येष्टि इन सोलह संस्कारों की संस्कृति से अपना व राष्ट्र का जीवन उन्नत बनाऊंगा।

✷ उत्कर्ष के साथ संघर्ष न छोड़ो! ✷

जो संस्कृति जितनी विकसित होती है, जो संस्कृति, व्यक्ति, समाज व राष्ट्र जितना विकसित होता है, अधिकतर वो संस्कृति, व्यक्ति, समाज व राष्ट्र उतना ही आलसी हो जाता है और यही उसके पतन का कारण बन जाता है, अतः उत्कर्ष के साथ संघर्ष कम नहीं होना चाहिए।

✷ वैराग्य ✷

वैराग्य पलायन का नाम नहीं, अपितु विवेक की पराकाष्ठा का नाम ही वैराग्य है सम्यक् दृष्टि पाकर अनासक्त होकर निरन्तर प्रगतिशील, संघर्षशील व पुरुषार्थी बने रहना ही वैराग्य का पूर्ण लक्षण है।

हमारे प्रकाशन

आयुर्वेद के सिद्धान्तों और दर्शन पर पूर्ण प्रकाश डालती पुस्तकें

स्वामी जी द्वारा लिखित स्वधर्म एवं राष्ट्रधर्म का मार्गदर्शन करती एवं भारत स्वाभिमान के लक्ष्यों पर प्रकाश डालती पुस्तकें

हिमालय सहित देशभर में पाई जाने वाली दुर्लभ और सुलभ जीवनदायिनी औषधियों के बारे में सचित्र विवरण

अभी तक अप्राप्य समझी जाने वाली बहुमूल्य अष्टवर्ग की दिव्य औषधियों का वर्णन
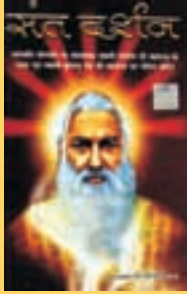
पतंजलि योगपीठ के संस्थापक स्वामी रामदेव जी के दादागुरु स्वामी कृपालुदेव जी महाराज का जीवन चरित्र

स्वामी जी के अनुभूत चमत्कारिक प्रयोगों पर आचार्य बालकृष्ण जी द्वारा लिखित। दिव्य औषधियों के रोगानुसार सेवन का वर्णन

महर्षि पतंजलि द्वारा बताए गए योग के गूढ़ रहस्यों का परम पूज्य स्वामी रामदेव जी द्वारा सरल व प्रामाणिक हिंदी व्याख्या सहित वर्णन

योग और विज्ञान का प्रामाणिक संबंध दर्शाती पुस्तक

स्वामी जी द्वारा लिखित अष्टांग योग के गूढ़ रहस्यों की सरल विवेचना। असाध्य रोगों के निराकरण तथा प्रामाणिक यौगिक चिकित्सा की लोकप्रिय पुस्तक।

स्वामी जी द्वारा गाए जाने वाले भजनों व देशभक्ति गीतों का अनूठा संग्रह
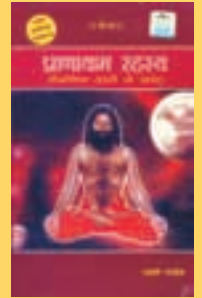
स्वामी जी द्वारा लिखित इस पुस्तक का अध्ययन कर प्राणायाम तथा ध्यानादि योग की विशिष्ट प्रक्रियाओं का प्रशिक्षण ले रोगों से मुक्ति प्राप्त करें

कहाँ से प्राप्त करें-

आप पतंजलि चिकित्सालयों और पतंजलि आरोग्य केन्द्रों से अपनी पसंदीदा पुस्तकें प्राप्त कर सकते हैं। दिव्य योग मंदिर की वेबसाइट पर भी संस्था की सभी पुस्तकों व वी.सी.डी. इत्यादि की सूची उपलब्ध है।

ऑनलाइन खरीद उपलब्ध-ऑनलाइन पुस्तक खरीदने की सुविधा
http://healthservices.divyayoga.com पर उपलब्ध है।

आन्दोलन को समर्थन हेतु मिस कॉल करें तथा संगठन से जुड़ें
022-33081122

संगठन की विस्तृत जानकारी व आन्दोलन से जुड़ने के लिए सम्पर्क करे :

केन्द्रीय कार्यालय, भारत स्वाभिमान (न्यास), पतंजलि योगपीठ,
हरिद्वार-249405, उत्तराखण्ड (भारत)

Phone : 01334-240008, 273000, 248888, 244107
Fax: 01334-244805, 240664

E-mail : bharatswabhimanheadoffice@gmail.com
diyvayoga@rediffmail.com
Website: www.bharatswabhimantrust.org, www.divyayoga.com

Blog: www.swami-ramdev.com को निरन्तर पढ़ें
www.facebook.com/swami.ramdev को **Like** करें
www.twitter.com/yogrishiramdev को **Follow** करें

'आस्था' चैनल पर
प्रातः 5 से 8 बजे तक व सायं 8 से 9.30 बजे तक

'संस्कार' चैनल पर
प्रातः 4 से 5.30 व 8.40 से 9 बजे तक
सायं 9 से 10 बजे तक

पूज्य स्वामी जी व श्रद्धेय आचार्य जी के कार्यक्रम देखकर योग-आयुर्वेद व स्वदेशी को अपने जीवन में अपनाएँ तथा दूसरों को कार्यक्रम देखने के लिए प्रेरित करके वेदों व ऋषियों के ज्ञान को घर-घर तक पहुँचाएँ।

वचनामृत

- स्वदेशी प्रचार, स्वदेश व स्वदेशी संस्कृति से जुड़ा एक व्यापक चिन्तन है, जो सबको सम्मान व स्वाभिमान से जीने का अवसर देता है और देश का धन बाहर जाने से रोक कर देश को सशक्त आर्थिक आधार देता है, हमारा स्वदेशी प्रचार का तात्पर्य केवल पतंजलि से नहीं है, बल्कि स्वदेशी में हमें प्रथम वरीयता अपने गांव, जिला, प्रान्त व देश में बनी वस्तुओं को देनी है, जब विश्व की आर्थिक महाशक्ति अमेरिका व चीन स्वदेशी को सर्वोच्च प्राथमिकता दे रहे हैं, तो भारत में स्वदेशी को पूर्ण सम्मान क्यों नहीं मिलना चाहिए?
- भारत माता के सीने को कुछ देश के गद्दारों ने धोखा व विश्वासघात करके लहुलुहान कर दिया है, ऐसे में करोड़ों देशभक्त नागरिकों के हृदय में जुनून, शौर्य, आक्रोश व स्वाभिमान उमड़ रहा है, और उनका खून खौल रहा है।
- अब हम और कितने दिनों तक लुटते रहेंगे तथा गरीबी, भूख व अपमान की जिन्दगी जीते रहेंगे। आज यदि देश को लूटने में कुछ चन्द लोग हैं तो भारत माता की रक्षा के लिये करोड़ों लोगों के खड़े होने की आवश्यकता है।
- आओं! कुछ दिनों के लिये सब किसान, जवान, युवक, युवतियाँ, सब विद्यार्थी, सभी वर्ग, मजहब व जाति, सभी सामाजिक, आध्यात्मिक संगठनों के लोग एकजुट होकर संघर्ष करो, कुछ समय देश के लिये निकालो तो आपको व देश को सब कुछ मिलेगा, अन्यथा सब कुछ लुट जायेगा। अभी नहीं तो कभी नहीं। हमारा 400 लाख करोड़ रुपये कुछ भ्रष्ट व लालची लोगों ने लूटकर विदेशों में जमा करवा दिया है, वह हमें देश को वापस दिलाना है।
- योग व स्वदेशी के एक छोटे से व्रत का बहुत बड़ा लाभ इस देश को मिलेगा, देश का प्रतिवर्ष लगभग 25 से 30 लाख करोड़ रुपये जो रोग, नशा व विदेशी कम्पनियों की भेंट चढ़कर बर्बाद हो रहा था वह बचेगा और यह धन पतंजलि ग्रामोद्योग के माध्यम से गांवों को मिलेगा, परिणामतः प्रतिवर्ष प्रत्येक गांव को लगभग 5 करोड़ रुपये का अतिरिक्त आर्थिक लाभ होगा तथा रोग, नशा व विदेशी कम्पनियों की लूट के षड्यन्त्र से मुक्त एक स्वस्थ, समर्थ व संस्कारवान् भारत का निर्माण होगा।
- भगवान् ने प्रत्येक व्यक्ति को प्रथम होने की शक्ति, सामर्थ्य व ज्ञान दिया है। जो क्षमता सृष्टि के आदिकाल से अब तक विश्व के महान आदर्श महापुरुषों में थी, वहीं सम्पूर्ण क्षमता हम सब में है अतः हमें जीवन के हर क्षेत्र में प्रथम बनना है तथा अपने देश को भी प्रथम बनाना है। हमारे राष्ट्र में भी विश्व के प्रथम होने व विश्व का नेतृत्व करने की सम्पूर्ण क्षमता है।

निःशुल्क वितरण हेतु प्रकाशन सहयोग : पतंजलि आयुर्वेद
डी-38, औद्योगिक क्षेत्र, हरिद्वार-249401, उत्तराखण्ड (भारत)